श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिता

स्तुतिविद्या

(जिनशतक)

[समन्तभद्र-भारतीका एक अंग]

श्रीवसुनन्द्याचार्यकृत संस्कृतटीकासे अलंकृत

तथा हिन्दी अनुवादसे युक्त

अनुवादक

साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त'

अध्यापक 'गणेश दिगम्बर जैन-संस्कृतविद्यालय' सागर

प्रस्तावनालेखक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रधान सम्पादक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथमावृत्ति १००० प्रति } वीर-शासन-जयन्ती, संवत् २४७६ वि० सं० २००७, ३० जुलाई १९५० { मूल्य डेढ़ रुपया

ग्रन्थानुक्रम

कुल पृष्ठसंख्या = २०२

राजहंस प्रेस, सदर बाजार, देहली

प्रकाशकीय वक्तव्य

सन् १९४० में स्वामी समन्तभद्रके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका एक बहुत बढ़िया संस्करण 'समन्तभद्रभारती' के नामसे, विशिष्ट हिन्दी अनुवादादिके साथ, वीर-सेवा-मन्दिरसे निकालनेका विचार मेरे मनमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अनेक विद्वानोंने बहुत पसन्द किया था। इस ग्रन्थराजका कार्य सुचारु रूपसे शीघ्र सम्पन्न होनेके लिये जब विद्वानोंके सामने सहयोगकी योजना रखी गई तो कई विद्वानोंने बिल्कुल सेवाभावसे—स्वामी समन्तभद्रके ऋणसे कुछ उऋण होनेके खयालसे—एक-एक ग्रन्थके अनुवादकार्यको बाँट लिया। चुनाँचे अक्तूबर सन् १९४० के 'अनेकान्त' की किरण १२ में जब वीरसेवामन्दिरकी विज्ञप्ति-द्वारा 'समन्तभद्रभारतीकी प्रकाशन-योजना' प्रकट की गई और उसकी सारी रूप-रेखा स्पष्ट की गई तब उसमें बड़ी प्रसन्नताके साथ यह घोषणा की गई थी कि:—

"पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यने 'बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र' का, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने 'युक्त्यनुशासन' का, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने 'जिनशतक' नामकी स्तुतिविद्याका और न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने 'देवागम' नामक आप्तमीमांसाका अनुवाद करना सहर्ष स्वीकार किया है—कई विद्वानोंने अपना अनुवादकार्य प्रारम्भ भी कर दिया है। अवशिष्ट 'रत्नकरण्डक' नामक उपासकाध्ययनका अनुवाद मेरे हिस्सेमें रहा है, प्रस्तावना तथा जीवन-चरित्र लिखनेका भार भी मेरे ही ऊपर रहेगा, जिसमें मेरे लिये अनुवादकों तथा दूसरे विद्वानोंका सहयोग भी वांछनीय होगा।"

पं० वंशीधरजीने अनुवाद-कार्य प्रारम्भ जरूर किया था। और उसका कुछ नमूना मुझे देखने आदिके लिये भेजा भी था। पं० फूलचन्द्रजी और पं० महेन्द्रकुमारजीने अपना-अपना अनुवादकार्य आरम्भ किया या कि नहीं, यह मुझे कुछ मालूम नहीं हो सका, परन्तु ये तीनों ही विद्वान अपनी-अपनी कुछ परिस्थितियोंके वश नियत अनुवादको प्रस्तुत करके देनेमें समर्थ नहीं हो सके, जिसका मुझे बड़ा अफसोस रहा। और इस लिये 'रत्नकरण्डक' का अनुवाद समाप्त करनेके कुछ अर्से बाद मैंने स्वयम्भूस्तोत्रके अनुवादको स्वयं अपने हाथमें लिया और प्रतिज्ञा-बद्ध होकर नियमसे उसका कुछ-न-कुछ कार्य प्रतिदिन करता ही रहा। साथ ही उसे अनेकान्तमें 'समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने' शीर्षकके नीचे प्रकाशित करना भी प्रारम्भ करदिया, जिससे कहीं कुछ भूल हो तो वह सुधरजाय। उसकी समाप्तिके बाद 'युक्त्यनुशासन' के अनुवादको भी हाथमें लिया गया। यह अनुवाद अभी एक तिहाईके करीब ही हो पाया था कि कानपुरमें दि० जैनपरिषद्के अधिवेशनपर अपने बाक्सके चोरी चले जानेपर वह भी साथमें चला गया! उसके इस प्रकार चोरी चले जानेपर चित्तको बहुत आघात पहुँचा और फिर अर्से तक उस अनुवादकार्यमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी। आखिर अपनी एक वर्षगांठके अवसरपर उस अनुवादकी भी प्रतिज्ञा लीगई और तबसे वह नियमित रूपसे बराबर होता रहा तथा समाप्त हो गया। उसे भी अनेकान्तमें प्रकाशित किया जाता रहा है। इस तरह मेरे द्वारा तीन ग्रन्थोंका अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। 'देवागम' का अनुवाद भी अब मुझे ही करना है; क्योंकि इस बीचमें एक दूसरे विद्वानको भी उसका अनुवाद दिया गया था परन्तु कई वर्ष हो जानेपर भी वे उसे करके नहीं दे सके; तब उसका भी अनुवाद स्वयं ही करनेका

विचार स्थिर किया गया।

पं० पन्नालालजी 'वसन्त' अपना वह अनुवाद बहुत वर्ष पहले ही भेज चुके थे जो इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित हो रहा है। कितने ही वर्षों यह समन्तभद्रभारतीके अन्य ग्रन्थोंके अनुवाद-की प्रतीक्षामें पड़ा रहा और जब विद्वानोंके सहयोगाभाव तथा प्रेस और कागजकी कुछ परिस्थितियोंके वश समन्तभद्रभारती-का अभी उस रूपमें प्रकाशित करना अशक्य जान पड़ा जिस-रूपमें उसके प्रकाशनकी सूचना उक्त विज्ञप्तिमें की गई थी तब समन्तभद्रभारतीके ग्रन्थोंको प्रारम्भमें अलग-अलग प्रकाशित करनेका ही निश्चय करना पड़ा। तदनुसार सबसे पहले 'स्वय-म्भूस्तोत्र' को प्रेसमें दिया गया। यह ग्रन्थ अर्सेसे प्रेसमें ही छपा हुआ रक्खा है। इसकी अभीष्ट प्रस्तावना लिखनेका मुझे अभी तक अवसर नहीं मिल सका, इसीसे प्रकाशमें नहीं लाया जा सका। अब इस ग्रन्थके बाद जल्दी ही प्रकाशमें आएगा और उसके अनन्तर 'युक्त्यनुशासन' तथा 'समीचीन धर्मशास्त्र' नामसे रत्नकरण्डक भी अपने भाष्यसहित प्रकाशमें लाया जाएगा। पिछले ग्रन्थकी ४-५ कारिकाओंके भाष्यका नमूना अनेकान्तमें प्रकाशित हो चुका है, और इससे अनेक सज्जन उस भाष्यको देखनेके लिये भी बहुत ही उत्कंठित हैं।

प्रेस तथा कागज आदिकी कुछ परिस्थितियोंके वश प्रस्तुत ग्रन्थ अभी तक प्रेसमें नहीं दिया जासका था और इसके कारण अनुवादकजीको कितनी ही प्रतीक्षा करनी पड़ी, जिसका मुझे खेद है। साथ ही उनका यह धैर्य प्रशंसनीय है और इसके लिये मेरे हृदयमें स्थान है। अपने इस अनुवादके लिये वे समाजके धन्यवाद-पात्र हैं।

इस ग्रन्थका एक संस्करण आजसे कोई ३८ वर्ष पहले सन् १९१२ में स्वर्गीय पं० पन्नालालजी बाकलीवालने पं० लालारामजी

के अनुवादके साथ काशीसे प्रकाशित किया था, जो आजकल प्राय: अप्राप्य है। उस संस्करणसे वर्तमान संस्करण अनुवादके अलावा पाठ-शुद्धि, प्रस्तावना, पद्यानुक्रम और चित्रालंकारोंके स्पष्टीकरण आदिकी दृष्टिसे अपनी खास विशेषता रखता है और अधिक उपयोगी बन गया है।

अन्तमें मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि प्रूफरीडिंगमें बहुत कुछ सावधानी रक्खे जानेपर भी पराधीनताके अभिशापरूप तीन पेजके करीबका शुद्धिपत्र लगाना पड़ा है। अस्तु; कुछ प्रकाशक अपनी छपाईके दोषको छिपानेके लिये साथमें शुद्धिपत्रका लगाना पसंद नहीं करते जबकि उनके प्रकाशनोंमें बहुत कुछ अशुद्धियाँ होती हैं परन्तु अपनेको वैसा करके दूसरोंको अंधेरेमें रखना इष्ट नहीं है और इसीसे 'अशुद्धि-संशोधन'का साथमें लगाना आवश्यक समझा गया है।

देहली (दरियागंज) जुगलकिशोर मुख्तार
ता० २३ जुलाई १९५० अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

धन्यवाद

समन्तभद्र-भारतीके अंगस्वरूप 'स्तुतिविद्या' नामक इस सुन्दर ग्रन्थके प्रकाशनका श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर दो वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरको अनेक ग्रन्थोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हज़ार रुपयेकी सहायता प्रदान की थी और जिससे अन्य दो ग्रन्थोंके अलावा श्रीविद्यानन्दस्वामीका 'आप्तपरीक्षा' नामका महान् ग्रन्थ संस्कृत स्वोपज्ञटीका और हिन्दी अनुवादादिके साथ प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ भी उसी आर्थिक सहायतासे प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसरपर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनुवादकके दो शब्द

—:०:—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और श्रीसमन्तभद्रस्वामी ये दोनों महात्मा वर्तमान दिगम्बर जैन साहित्यके प्राणप्रतिष्ठापक हैं। इनकी अमर रचनाओंने दिगम्बर जैन साहित्यकी श्रीवृद्धिके साथ उसकी कीर्तिको समुज्ज्वल किया है। बहुत समयसे मेरी इच्छा है कि उक्त दोनों आचार्योंकी सभी उपलब्ध रचनाएँ उनके प्रामाणिक जीवनचरितके साथ 'कुन्दकुन्दभारती' और 'समन्तभद्रभारती' के नामसे प्रकाशित की जावें। एक समय था कि जब लोग सूत्ररूप संक्षिप्त रचनाको मान देते थे, उसके बाद वृत्ति और भाष्य ग्रन्थोंको मान्यता मिलने लगी। मूल लेखकोंके सारपूर्ण संक्षिप्त लेख वृत्ति-भाष्य और टीकाकारोंके वृहद् वक्तव्योंसे वेष्टित होकर सामने आये। भाष्यकारों और टीकाकारोंमें इस-बातकी होड़सी होने लगी कि संक्षिप्त रचनाओंको देखें कौन अधिक विस्तृत कर सकता है। अब कुछ समय बदला है और लोगोंके हृदयमें पुनः यह आकांक्षा होने लगी है कि मूल लेखकके सार-पूर्ण स्वतन्त्र अभिप्रायको टीकाकारोंके वृहद् वक्तव्योंसे अलग किया जावे। इसीसे 'कुन्दकुन्दभारती' और 'समन्तभद्रभारती' में दोनों आचार्योंके मूल ग्रन्थोंको सरल संक्षिप्त अनुवादके साथ संकलित करनेकी मेरी इच्छा रही है।

लगभग आठ दस वर्ष हुए तब अनवरत साहित्य-सेवी वयोवृद्ध श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने मुझे इस आशयका एक पत्र लिखा कि मैं वीरसेवामन्दिरसे 'समन्तभद्रभारती'

नामक ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहता हूँ,जिसमें समन्तभद्रस्वामी-के उपलब्ध समस्त ग्रन्थोंका आधुनिक हिन्दीमें सरल संक्षिप्त अनुवाद होगा ! आप स्तुतिविद्या (जिनशतक) का अनुवाद करदें। बाबूजीका उक्त आशयवाला पत्र पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और मैंने स्तुतिविद्याका अनुवाद लिखनेकी स्वीकृति दे दी। साथही कार्य प्रारम्भ भी कर दिया। दो माहमें यह कार्य पूर्ण होगया और प्रेसकापी तैयार कर मैंने मुख्तारजीके पास भेज दी। मेरा खयाल है कि सहयोग और साधनोंके अभावमें मुख्तारजी अपनी इच्छानुसार 'समन्तभद्रभारती' को प्रकाशित करनेमें शीघ्र ही अग्रसर नहीं हो सके। उन्होंने समन्तभद्रस्वामी-के कुछ ग्रन्थ फुटकर रूपसे प्रकाशित करना स्थिर किया और तदनुसार 'स्वयम्भूस्तोत्र' आदि कुछ ग्रन्थोंको वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित भी किया जाने लगा। अब 'स्तुतिविद्या' भी प्रकाशित कर रहे हैं। जिस रूपमें मैं इसे जनताके समक्ष रखना चाहता था उस रूपमें तो नहीं रख सका हूँ। पर पूर्ण साधनोंके अभावमें जिस रूपमें भी इसे सामने रख रहा हूँ वह 'समन्तभद्रभारती' का एक परिचायक अङ्ग ही होगा।

स्तुतिविद्या (जिनशतक) एक शब्दालंकार-प्रधान काव्यग्रन्थ है इसमें यमक तथा चित्रालंकारके जिन विविध रूपोंको आचार्य महोदयने सामने रक्खा है उन्हें देखकर आपके अगाध काव्य-कौशलका सहज ही पता चल जाता है। मेरा अनुभव है कि अर्थालंकारकी अपेक्षा शब्दालंकारकी रचना करना अत्यन्त कष्टसाध्य है। कुछ उत्तरवर्ती साहित्यकारोंने भले ही शब्दा-लंकारको काव्यके अन्तर्गत गड्डुभूत मानकर उपेक्षित किया है परन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने इसे बहुत ही महत्व दिया है। अस्तु।

जिनशतक, यद्यपि संस्कृतटीका और पं० लालारामजी कृत

हिन्दी अनुवादके साथ पहले काशीसे प्रकट हो चुका है तथापि इसके आधुनिक अनुवादकी आवश्यकता थी। मैंने पूर्वमुद्रित पुस्तककी अशुद्धियोंको यथाशक्ति दूर करनेका प्रयत्न किया है और कितनेही श्लोकोंको वृहद् भावार्थ देकर स्पष्ट भी किया है। पाद-टिप्पणोंमें अलंकारगत तथा श्लोक-सम्बन्धी विशेषताको प्रदर्शित किया है। आवश्यकतानुसार संस्कृत टिप्पण भी कहीं-कहीं साथमें लगाये हैं और अंतमें चित्रालंकारके चित्र भी क्रमशः संकलित किये हैं। जहां तक भी हो सका है मैंने अपने अनुवादमें संस्कृत टीकाकारके भावको सुरक्षित रखा है, फिर भी जहां कहीं मुझे संस्कृतटीकासे कुछ विभिन्नता प्रदर्शित करनी थी वहां टिप्पणमें उल्लेख कर नूतन संस्कृतटीका भी लिखदी है; जैसा कि ८७ वें श्लोकके अनुवादमें किया गया है।

प्रयत्न करनेपर भी इस गहन ग्रन्थके अनुवादादिमें मेरे द्वारा भूलोंका होना अथवा अशुद्धियोंका रह जाना संभव है, जिनके लिये मैं विद्वानोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

सागर — नम्र

ता० २२-६-१९५० — पन्नालाल जैन

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका मूलनाम 'स्तुतिविद्या' है; जैसा कि आदिम मंगलपद्यमें प्रयुक्त हुए **'स्तुतिविद्यां प्रसाधये'** इस प्रतिज्ञा-वाक्यसे जाना जाता है। ग्रन्थका **'गत्वैकस्तुतिमेव'** नामका जो अन्तिम पद्य कवि और काव्यके नामको लिए हुए एक चक्रवृत्त रूपमें चित्रकाव्य है उसकी छह आरों और नव वलयों-वाली चित्ररचनापरसे ग्रन्थका नाम **'जिनस्तुतिशतं'** निकलता है, जैसा कि टीकाकारने व्यक्त किया है और इसलिये ग्रन्थका दूसरा नाम 'जिनस्तुतिशतं' है जो ग्रन्थकारको इष्ट रहा मालूम होता है। यह नाम जिनस्तुतियोंके रूपमें स्तुतिविद्याके पद्योंकी प्रधान संख्याको साथमें लिये हुए है और इसलिये इसे स्तुति-संख्या-परक नाम समझना चाहिये। जो ग्रन्थनाम संख्यापरक होते हैं उनमें 'शत' की संख्याके लिये ऐसा नियम नहीं है कि ग्रन्थकी पद्यसंख्या पूरी सौ ही हो वह दो चार दस बीस अधिक भी हो सकती है; जैसे समाधिशतककी पद्य-संख्या १०५ और भूधरजैनशतककी १०७ है। और भी बहुतसे शत-संख्यापरक ग्रन्थनामोंका ऐसा ही हाल है। भारतमें बहुत प्राचीनकालसे कुछ चीजोंके विषयमें ऐसा दस्तूर रहा है कि वे सौकी संख्या अथवा सैंकड़ेके रूपमें खरीदी जानेपर कुछ अधिक संख्यामें ही मिलती है, जैसे आम कहीं ११२ और कहीं १२० की संख्यामें मिलते हैं इत्यादि। शतक ग्रन्थोंमें भी ग्रन्थकारोंकी प्रायः ऐसी ही नीति रही है—उन्होंने

'शत' कहकर भी शतसे प्राय: कुछ अधिक पद्य ही अपने पाठकोंको प्रदान किये हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें ११६ पद्य होते हुए भी उसका 'जिनस्तुतिशतं' यह नाम सार्थक जान पड़ता है। 'शत' और 'शतक' दोनों एकार्थक हैं अत: 'जिनस्तुतिशतं' को 'जिनस्तुतिशतकं' भी कहा जाता है। 'जिनस्तुतिशतक' का बादको संक्षिप्तरूप 'जिनशतक' होगया है और यह ग्रन्थका तीसरा नाम है, जिसे टीकाकारने 'जिनशतकनामेति' इस वाक्यके द्वारा प्रारंभमें ही व्यक्त किया है। साथ ही, 'स्तुति-विद्या' नामका भी उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारोंकी प्रधानताको लिये हुए हैं और इसलिये अनेक ग्रन्थप्रतियोंमें इसे 'जिनशतालङ्कार' अथवा 'जिनशतकालङ्कार' जैसे नामसे भी उल्लेखित किया गया है और इसलिये यह ग्रन्थका चौथा नाम अथवा ग्रन्थनामका चौथा संस्करण है।

ग्रन्थ-परिचय

समन्तभद्र-भारतीका अंगरूप यह ग्रन्थ जिन-स्तुति-विषयक है। इसमें वृषभादि चतुर्विंशतिजिनोंकी—चौबीस जैन तीर्थ-ङ्करोंकी—अलंकृत भाषामें बड़ी ही कलात्मक स्तुति की गई है। कहीं श्लोकके एक चरणको उलट कर रख देनेसे दूसरा चरण[1], पूर्वार्धको उलटकर रख देनेसे उत्तरार्ध[2] और समूचे श्लोकको उलटकर रखदेनेसे दूसरा श्लोक[3] बन गया है। कहीं कहीं चरणके पूर्वार्ध-उत्तरार्धमें भी ऐसा ही क्रम रक्खा गया[4] है और कहीं कहीं एक चरण में क्रमश: जो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरण में है, पूर्वार्धमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्धमें हैं और पूर्ववर्ती

---

१. श्लोक १०, ८३, ८८, ६५। २. श्लोक ५७, ६६, ६८। ३. श्लोक ८६, ८७। ४. श्लोक ८५, ६३, ६४।

श्लोकमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोकमें हैं; परन्तु अर्थ उन सबका एक-दूसरे से प्रायः भिन्न है और वह अक्षरोंको सटा कर तथा अलगमें रखकर भिन्न भिन्न शब्दों तथा पदोंकी कल्पना-द्वारा संगठित किया गया है[1]। श्लोक नं० १०२ का उत्तरार्ध है—'श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे।' अगले दो श्लोकोंका भी यही उत्तरार्ध इसी अक्षर-क्रमको लिये हुए है; परन्तु वहाँ अक्षरोंके विन्यासभेद और पदादिककी जुदी कल्पनाओंसे अर्थ प्रायः बदल गया है।

कितने ही श्लोक ग्रन्थमें ऐसे हैं जिनमें पूर्वार्धके विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको उत्तरार्धके समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलकर पढ़नेसे पूर्वार्ध और उत्तरार्धके विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलकर पढ़नेसे उत्तरार्ध होजाता है। ये श्लोक 'मुरज' अथवा 'मुरजबन्ध' कहलाते हैं; क्योंकि इनमें मृदङ्गके बन्धनों जैसी चित्राकृतिको लिये हुए अक्षरोंका बन्धन रक्खा गया है। ये चित्रालङ्कार थोड़े थोड़ेसे अन्तरके कारण अनेक भेदोंको लिये हुए हैं। और अनेक श्लोकोंमें समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणोंके चार आद्य अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके चार अन्तिम अक्षरोंके साथ मिलाकर पढ़नेसे प्रथम चरण बन जाता है। इसी तरह प्रथमादि चरणोंके द्वितीयादि अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके उपान्त्यादि अक्षरोंके साथ साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेपर द्वितीयादि चरण बनजाते हैं, ऐसे श्लोक 'अर्धभ्रम' कहलाते हैं[2]।

---

१. देखो, श्लोक ५, १५; २५, ५२; ११-१२, १६-१७, ३७-३८, ४६-४७, ७६-७७, ६३-६४, १०६-१०७। २. देखो श्लोक नं० ३, ४, १८, १६, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६०, ६२।

कुछ पद्य चक्राकृतिके रूपमें अक्षर-विन्यासको लिये हुए हैं और इससे उनके कोई कोई अक्षर चक्रमें एक वार लिखे जाकर भी अनेक वार पढ़नेमें आते हैं[1]। उनमेंसे कुछमें यह भी खूबी है कि चक्रके गर्भवृत्तमे लिखा जानेवाला जो आदि अक्षर है वह चक्रकी चार महादिशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी पड़ता है[2]। १११ और ११२ नम्बरके पद्योंमें तो वह खूबी और भी बढ़ी चढ़ी है। उनकी छह आरों और नव वलयां-वाली चक्ररचना करनेपर गर्भमें अथवा केन्द्रवृत्तमें स्थित जो एक अक्षर (न या र) है वही छहों आरोंके प्रथम चतुर्थ तथा सप्तम वलयमें भी पड़ता है, और इसलिए चक्रमें १६ बार लिखा जाकर २८ वार पढ़ा जाता है। पद्यमें भी वह दो दो अक्षरोंके अन्तरालसे २८ वार प्रयुक्त हुआ है। इनके सिवाय, कुछ चक्रवृत्त ऐसे भी हैं जिनमें आदि अक्षरको गर्भमें नहीं रक्खा गया बल्कि गर्भमें वह अक्षर रक्खा गया है जो प्रथम तीन चरणोंमेंसे प्रत्येकके मध्यमें प्रयुक्त हुआ है[3]। इन्हींमें कवि और काव्यके नामोंको अङ्कित करनेवाला ११६वाँ चक्र-वृत्त है।

अनेक पद्य ग्रन्थमें ऐसे हैं जो एकसे अधिक अलङ्कारोंको साथमें लिये हुए हैं, जिसका एक नमूना ८४ वाँ श्लोक है, जो आठ प्रकारके चित्रालंकारोंसे अलंकृत है[4]। यह श्लोक अपनी चित्ररचनापरसे सब ओरसे समानरूपमें पढ़ा जाता है।

कितने ही पद्य ग्रन्थमें ऐसे है जो दो-दो अक्षरोंसे बने हैं—

---

१. देखो, श्लोक २६, ५३, ५४ आदि। २. देखो, श्लोक २२, २३, २४। ३. देखो, पद्य नं० ११०, ११३, ११४, ११५, ११६।

४. देखो पृष्ठ नं० १०३, १०४ का फुटनोट

दो व्यञ्जनाक्षरोंसे ही जिनका सारा शरीर निर्मित हुआ है[1]। १४ वाँ श्लोक ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद भिन्न प्रकारके एक-एक अक्षरसे बना है और वे अक्षर हैं क्रमशः य, न, म, त। साथ ही, 'तेतोतिता तु तेतीत' नामका १३वां श्लोक ऐसा भी है जिसके सारे शरीरका निर्माण एक ही तकार अक्षरसे हुआ है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और चित्रालङ्कारके अनेक भेद-प्रभेदोंसे अलंकृत है और इसीसे टीकाकार महोदयने टीकाके प्रारंभमें ही इस कृतिको 'समस्तगुणगणोपेता' विशेषणके साथ 'सर्वालंकारभूषिता' (प्रायः सब अलंकारोंसे भूषित) लिखा है। सचमुच यह गूढ ग्रन्थ ग्रन्थकारमहोदयके अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। इसकी दुर्बोधताका उल्लेख टीकाकारने 'योगिनामपि दुष्करा'—योगियोंके लिये भी दुर्गम (कठिनतासे बोधगम्य)—विशेषणके द्वारा किया है और साथ ही इस कृतिको 'सद्गुणाधारा' (उत्तम गुणोंको आधार भूत) बतलाते हुए 'सुपद्मिनी' भी सूचित किया है और इससे इसके अंगोंकी कोमलता, सुरभिता और सुन्दरताका भी सहज सूचन हो जाता है, जो ग्रन्थमें पद पदपर लक्षित होती है।

ग्रन्थरचनाका उद्देश्य

इस ग्रन्थकी रचनाका उद्देश्य, ग्रन्थके प्रथम पद्यमें 'आगसां जये' वाक्यके द्वारा 'पापोंको जीतना' बतलाया है

---

१. दोनों, पद्य नं० ५१, ५२, ५५, ८५, ९३, ९४, ९७, १००, १०६।

और दूसरे अनेक पद्योंमें भी जिनस्तुतिसे पापोंके जीते जानेका भाव व्यक्त किया है। परन्तु जिनस्तुतिसे पाप कैसे जीते जाते हैं यह एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। यहां उसके स्पष्टीकरणका विशेष अवसर नहीं है, फिर भी संक्षेपमें इतना जरूर बतला देना होगा कि जिन तीर्थङ्करोंकी स्तुति की गई है वे सब पाप-विजेता हुए हैं—उन्होंने अज्ञान-मोह तथा काम-क्रोधादि पापप्रकृतियोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त की है। उनके चिन्तन और आराधनमे अथवा हृदयमन्दिरमें उनके प्रतिष्ठित (विराजमान) होनेसे पाप खड़े नहीं रह सकते—पापोंके दृढ बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्षपर मोरके आनेसे उससे लिपटे हुए सांप ढीले पड़ जाते हैं और वे अपने विजेतासे घबराकर कहीं भाग निकलनेकी सोचने लगते हैं।[1] अथवा यों कहिये कि उन पुण्यपुरुषोंके ध्यानादिकसे आत्माका वह निष्पाप शुद्ध स्वरूप सामने आता है जो सभी जीवोंकी सामान्य सम्पत्ति है और जिसे प्राप्त करनेके सभी भव्यजीव अधिकारी हैं। उस शुद्ध स्वरूपके सामने आते ही अपनी उस भूली हुई निधिका स्मरण हो उठता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रेम तथा अनुराग जागृत हो जाता है और पाप-परिणति सहज ही छूट जाती है। अतः जिन पूतात्माओंमें वह शुद्धस्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है उनकी उपासना करता हुआ भव्यजीव अपनेमें उस शुद्धस्वरूपको विकसित करनेके लिये उसी तरह समर्थ होता है जिस तरह कि तैलादिकसे सुसज्जित बत्ती

१ "हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥"
— कल्याणमन्दिर

दीपककी उपासना करती हुई उसके चरणोंमें जब तन्मयताकी दृष्टिसे अपना मस्तक रखती है तो तद्रूप होजाती है—स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब भक्ति-योगका माहात्म्य है, स्तुति-पूजा और प्रार्थना जिसके प्रधान अंग हैं। साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामोंकी—पुण्यप्रसाधक शुभ भावोंको—निमित्तभूत होती है और अशुभ अथवा पापकी निवृत्तिरूप वे कुशल-परिणाम ही आत्माके विकासमें सहायक होते हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने, अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें, परमात्माकी—वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवकी—स्तुतिको कुशल-परिणामोंकी हेतु बतलाकर उसके द्वारा कल्याणमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है[1]। साथही, यह भी बतलाया है कि पुण्य-गुणोंका स्मरण आत्मासे पापमलको दूर करके उसे पवित्र बनाताहै[2]। और स्तुतिविद्या (११४) में जिनदेवकी ऐसी सेवाको अपने 'तेजस्वी' तथा 'सुकृती' होने आदिका कारण निर्दिष्ट किया है।

परन्तु स्तुति कोरी स्तुति, तोता-रटन्त अथवा रूढिका पालन मात्र न होकर सच्ची स्तुति होनी चाहिये—स्तुतिकर्ता स्तुत्यके गुणोंकी अनुभूति करता हुआ उनमें अनुरागी होकर तद्रूप होने अथवा उन आत्मीय गुणोंको अपनेमें विकसित करनेकी शुद्ध भावनासे सम्पन्न होना चाहिये, तभी स्तुतिका ठीक उद्देश्य एवं फल (पापोंको जीतना) घटित हो सकता है और वह ग्रन्थकारके शब्दोंमें

---

१ "स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥"

२ "तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः ॥५७॥"

'जन्मारण्यशिखी' (११५)—भवभ्रमणरूप संसार-वनको दहन-करने वाली अग्नि—तक बनकर आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक हो सकती है।

और इसलिये स्तुत्यकी प्रशंसामें अनेक चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर उसे प्रसन्न करना और उसकी उस प्रसन्नता-द्वारा अपने लौकिक कार्योंको सिद्ध करना—कराना जैसा कोई उद्देश्य यहां अभीष्ट ही नहीं है। परमवीतराग देवके साथ वह घटित भी नहीं हो सकता, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप होनेसे वह सदा-ही ज्ञान तथा आनन्दमय है, उसमें रागका कोई अंश भी विद्य-मान नहीं है, और इसलिये किसीकी पूजा-वन्दना या स्तुतिसे उसमें नवीन प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और न वह अपनी स्तुति-पूजा करनेवालेको पुरस्कारमें कुछ देता-दिलाता ही है। इसी तरह आत्मामें द्वेषांशके न रहनेसे वह किसीकी निन्दा या अवज्ञापर कभी अप्रसन्न नहीं होता, कोप नहीं करता और न दण्ड देने-दिलानेका कोई भाव ही मनमें लाता है। निन्दा और स्तुति दोनों ही उसके लिये समान हैं, वह दोनोंके प्रति उदासीन है, और इसलिये उनसे उसका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। फिर भी उसका एक निन्दक स्वतः दण्ड पा जाता है और एक प्रशंसक अभ्युदयको प्राप्त होता है, यह सब कर्मों और उनकी फल-प्रदान-शक्तिका बड़ा ही वैचित्र्य है, जिसे कर्मसिद्धान्तके अध्ययनसे भले प्रकार जाना जा सकता है। इसी कर्म-फल-वैचित्र्यको ध्यानमें रखते हुए स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहा है—

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते,
द्विषंस्त्वयि प्रत्यय-वत्प्रलीयते।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि
प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥६९॥

'हे भगवन् ! आप मित्र और शत्रु दोनोंके प्रति अत्यन्त उदासीन हैं—मित्रसे कोई अनुराग और शत्रुसे कोई प्रकारका द्वेषभाव नहीं रखते, इसीसे मित्रके कार्योंसे प्रसन्न होकर उसका भला नहीं चाहते और न शत्रुके कार्योंसे अप्रसन्न होकर उसका बुरा ही मनाते हैं—,फिर भी आपका मित्र (अपने गुणानुराग, प्रेम और भक्तिभावके द्वारा श्रीविशिष्ट सौभाग्यको अर्थात् ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्यरूप अभ्युदयको प्राप्त होता है और एक शत्रु (अपने गुणद्वेषी परिणामके द्वारा) 'क्विप्' प्रत्ययादिकी तरह विनाशको—अपकर्षको—प्राप्त हो जाता है, यह आपका ईहित-चरित्र बड़ा ही विचित्र है !!

ऐसी स्थितिमें 'स्तुति' सचमुच ही एक विद्या है। जिसे यह विद्या सिद्ध होती है वह सहज ही पापोंको जीतने और अपना आत्मविकास सिद्ध करनेमें समर्थ होता है[1]। इस विद्याकी सिद्धिके लिये स्तुत्यके गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये, स्तुत्यके गुण ही आत्म-गुण हैं और उनका विकास अपने आत्मामें हो सकता है ऐसी दृढ श्रद्धा चाहिये। साथ ही मन-वचन-कायरूप योगको स्तुत्यके प्रति एकाग्र करनेकी कला आनी चाहिये। इसी योग-साधनारूप कलाके द्वारा स्तुत्यमें स्थित प्रकाशसे अपनी स्नेहने - भक्तिरससे—भीगी हुई आत्म-बत्तीको प्रकाशित और प्रज्वलित किया जाता है।

1 इसीसे टीकाकारने स्तुतिविद्याको 'घन-कठिन-घातिकर्मेन्धन-दहन समर्था' लिखा है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'वह घने कठोर घातियाकर्मरूपी ईन्धनको भस्म करनेवाली समर्थ अग्नि है', और इससे पाठक ग्रन्थके आध्यात्मिक महत्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तुतः पुरातन आचार्यों- अङ्ग पूर्वादिके पाठी महर्षियोंने वचन और कायको अन्य व्यापारोंसे हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और मनकी नाना-विकल्प-जनित व्यग्रताको दूर करके उसे ध्यान तथा गुणचिन्तनादि-द्वारा स्तुत्यमें लीन करनेको 'भावपूजा' बतलाया है। प्राचीनोंकी इस द्रव्यपूजा आदिके भावको श्रीअमितगति आचार्यने अपने उपासकाचार (वि० ११वीं शताब्दी) के निम्न वाक्यमें प्रकट किया है—

"वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥"

स्तुति-स्तोत्रादिके रूपमें ये भक्तिपाठ ही उस समय हमारे पूजा-पाठ थे, ऐसा उपासना-साहित्यके अनुसन्धानसे जाना जाता है। आधुनिक पूजापाठोंकी तरहके कोई भी दूसरे पूजा-पाठ उस समयके उपलब्ध नहीं हैं। उस समय मुमुक्षुजन एकान्त स्थानमें बैठकर अथवा अर्हत्प्रतिमा आदिके सामने स्थित होकर बड़े ही भक्तिभावके साथ विचारपूर्वक इन स्तुति-स्तोत्रोंको पढ़ते थे और सब कुछ भूल-भुलाकर स्तुत्यके गुणोंमें लीन होजाते थे; तभी अपने उद्देश्यमें सफल और अपने लक्ष्य-को प्राप्त करनेमें समर्थ होते थे। ग्रन्थकारमहोदय उन्हीं मुमुक्षु-जनोंके अग्रणी थे। उन्होंने स्तुतिविद्याके मार्गको बहुत ही परि-ष्कृत किया है।

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

स्तुति विद्याका उद्देश्य प्रतिष्ठित होजाने पर अब एक बात और प्रस्तुत की जाती है और वह यह कि, जब वीतराग अर्हन्त-देव परम उदासीन होनेसे कुछ करते-धरते नहीं तब ग्रन्थमें उनसे प्रार्थनाएँ क्यों की गई हैं और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषय-

का आरोप किया गया है? यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर वांछनीय एवं जाननेके योग्य है। अतः अब इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छापूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धि-पूर्वक कार्यका करनेवाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा या बुद्धिका प्रयोग ही नहीं बल्कि सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नहीं है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिविहीनकर्ता कार्योंके प्रायः निमित्तकारण ही होते हैं और प्रत्यक्षरूपमें तथा अप्रत्यक्षरूपमें उनके कर्ता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उनपर ज़रा ध्यान दीजिये—

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है।' यहाँ दवाई-में कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली है—रोगहरण कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहाँ 'रसायन' जड़ औषधियोंका समूह होनेसे एक जड़ पदार्थ है; उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और इस रसायनमें प्रसन्नता-का आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छा-

पूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नहीं किया। हाँ, उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य विना छत्रीके सामनेसे आ रहा था। सामने वाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्रीपर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आगई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकानपर भूल-आया हूँ; चुनाँचे वह तुरन्त ही वहाँ गया और अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ, इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है। यहाँ छत्री एक जड़वस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेको वह बात हो सुझाई है; फिर भी चूँकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृतिआदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त होगया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हरलिया, मेरा चित्त चुरा लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया! मुझे पागल बना दिया! अब मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कोई खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धिपूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं जाते हुए उसे देख लिया है; फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म-दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ़ रहा है; जब कि वह

उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दुःखित और पीड़ित गरीब मनुष्य एक सन्तके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्तिभावके साथ उस सन्तकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। वह सन्त संसार-देह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नहीं—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्तिभाव और भी दिन-पर-दिन बढ़ने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिड-गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मैं सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिस-से मैं अपनेको और जगतको भले प्रकार देख सकता हूँ। अब दया कर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसार-के पार हो जाऊँ।' यहाँ भक्तद्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठा कर उसे दिया है; फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई।

दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादि-की सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहो-भाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वह भक्त उस संतकी दिनचर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिकपर-से स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त हो गया। परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उस सन्त पुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्त कारण रहा है—भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्तद्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणोंपरसे यह बात सहज ही समझमें आजाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों, वह उनके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है; जब कि उसके निमित्तसे, प्रभा-वसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप व्यर्थ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा (direct) किसीका कोई कार्य न करते हों, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो। क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन,

स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय[१]? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, भक्त जनोंकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, और इसलिये उन्हें यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध होगया, जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है। रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवालेपर प्रसन्न नहीं होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवकपर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते हैं। प्रसन्नतापूर्वक सेवन-आराधनके कारण ही दोनोंमें—रसायन और वीतरागदेवमें—प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलंकृत भाषाका कथन है। अन्यथा दोनोंका कार्य वस्तुस्वभावके वशवर्ती, संयोगोंकी अनूकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा अथवा प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, संसारी जीव मनसे वचनसे या कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्मामें कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन-कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उसमें शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है। तदनुसार ही बन्ध होता है। इस तरह कर्म शुभ-अशुभके भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है।

१ "पुण्यप्रभावात् किं किं न भवति"—'पुण्यके प्रभावसे क्या-क्या नहीं होता' ऐसी लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है।

शुभकार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभकार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं। शुभाऽशुभ भावोंको तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मन्दतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमें बराबर परिवर्तन,(उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है। जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हींके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतरागदेवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एवं चिन्तन करने और उनमें अनुराग बढ़ानेसे शुभ भावों (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्य प्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पापप्रकृत्तियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृयियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति-बल, में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादि-को इष्टफलको दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत एक आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
> तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः ॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फल-को देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार संगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयमें अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता जो उनके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होजाती हैं अथवा उपासना एवं भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं। वास्तवमें परमवीतरागदेवसे प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामें देवके समक्ष अपनी मनःकामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'मैं आपके चरण-शरणमें रहकर और उससे पदार्थपाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता हूं।' उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि, 'हे वीतराग देव! आप अपने हाथ पैर हिलाकर मेरा अमुक काम करदो, अपनी जबान चलाकर या अपनी इच्छाशक्तिको काममें लाकर मेरे कार्यके लिये किसीको प्रेरणा कर दो, आदेश दे दो अथवा सफ़ारिश कर दो; मेरा अज्ञान दूर करनेके लिये अपना ज्ञान या उसका एक टुकड़ा तोड़कर मुझे दे दो; मैं दुखी हूँ, मेरा दुख आप ले लो और मुझे अपना सुख दे दो; मैं पापी हूँ, मेरा पाप आप अपने सिरपर उठालो—स्वयं उसके जिम्मेदार बन जाओ—और मुझे निष्पाप बना दो।' ऐसा आशय असंभाव्यको सम्भाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

ग्रन्थकारमहोदय देवरूपके पूर्णपरीक्षक और बहुविज्ञ थे।

उन्होंने अपने स्तुत्यदेवके लिये जिन विशेषणपदों तथा सम्बोधनपदोंका प्रयोग किया है और अपने तथा दूसरोंके लिये जैसी कुछ प्रार्थनाएँ की हैं उनमें असंभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है--वे सब जँचे-तुले शब्दोंमें देवगुणोंके अनुरूप, स्वाभाविक, सुसंभाव्य, युक्तिसंगत और सुसंघटित हैं। उनसे देवके गुणोंका बहुत बड़ा परिचय मिलता है और देवकी साकार मूर्ति सामने आ जाती है। ऐसी ही मूर्तिको अपने हृदय-पटलपर अंकित करके ग्रन्थकारमहोदय उसका ध्यान, भजन तथा आराधन किया करते थे; जैसा कि उनके **स्वचित्तपटयालिख्य जिनं चारु भजत्ययम्**" (१०१) इस वाक्यसे जाना जाता है। मैं चाहता था कि उन विशेषणादिपदों तथा प्रार्थनाओंका दिग्दर्शन कराते हुए यहां उनपर कुछ विशेष प्रकाश डालूँ और इसके लिये मैंने उनकी एक सूची भी तय्यार की थी; परन्तु प्रस्तावना धारणासे अधिक लम्बी होती चली जाती है अतः उस विचारको यहां छोड़ना ही इष्ट जान पड़ता है। मैं समझता हूँ ऊपर इस विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसपरसे सहृदय पाठक स्वयं ही उन सबका सामंजस्य स्थापित करनेमें समर्थ होसकेंगे। हिन्दी अनुवादमें कहीं-कहीं कुछ बातोंका स्पष्टीकरण किया गया है, जहां नहीं किया गया और सामान्यतः पदोंका अनुवाद मात्र दे दिया गया है वहां भी अन्यत्र कथनके अनुरूप उसका आशय समझना चाहिये।

ग्रन्थकार-परिचय

इस ग्रन्थके निर्माता आचार्यप्रवर स्वामी समन्तभद्र हैं, जिन्हें हस्तलिखित प्रतियोंमें, प्रस्तुत कृतिका कर्ता बतलाते हुए, 'कवि-गमक-वादि-वाग्मित्व-गुणालंकृतस्य' विशेषणके द्वारा कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके उन चार महान् गुणोंसे अलंकृत बतलाया है जो कि स्वामी समन्तभद्रमें असाधारण

विकासको प्राप्त हुए थे और जिनके कारण उनका यश चूड़ा-मणिके समान सर्वोपरि था और उसकी छाया बादको भी उस विषयके विद्वानोंके ऊपर पड़ती रही है और उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे शिरोधार्य किया है[1]। टीकाकारने भी 'तार्किकचूड़ामणिश्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचिता' लिखकर इसे उन्हीं समन्तभद्राचार्यकी कृति घोषित किया है। इसके सिवाय, दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी इस ग्रन्थके वाक्यों-का समन्तभद्रके नामसे, अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है। उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें अजितसेनाचार्यने निम्न वाक्यके साथ इस ग्रन्थके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समन्तभद्रार्य-जिनसेनादि-भाषितम् ।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्व-नामसूचित-लक्षणम् ॥

ऐसी स्थितिमें इस ग्रन्थके समन्तभद्रकृत होनेमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। वास्तवमें ऐसे ही महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तार-को प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थमें अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए जो निर्मल भक्ति-गंगा बहाई गई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही थे—दूसरे नहीं। और इसलिये ग्रन्थके अन्तिम काव्यकी छह आरों तथा नव वलयोंवाली चित्ररचनापरसे सप्तम वलय-में जो 'शान्तिवर्मकृतं' वाक्यकी उपलब्धि होती है और उससे

१. जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान् भगवज्जिनसेना-चार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥
—आदिपुराण

टीकाकारने कविका नाम, विना किसी विवाद अथवा अपने पूर्वकथनादिके साथ विरोधके, 'शान्तिवर्मा' सूचित किया है उसे समंतभद्रका ही नामान्तर समझना चाहिये। परन्तु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं होसकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम प्रायः देखनेमें नहीं आते। जान पड़ता है यह आचार्यमहोदयके मातापितादि-द्वारा दिया हुआ उनके जन्मका शुभ नाम था। इस नामसे आपके क्षत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है। यह नाम राजघरानोंका-सा है। कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हैं। कदम्बोंमें तो 'शान्तिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है। समन्तभद्र राजपुत्र थे और उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर[1]' के राजा थे, यह बात आपकी दूसरी 'आप्तमीमांसा' नामक कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न पुष्पिकावाक्यसे जानी जाती है, जो श्रवणबेल्गोलके श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

"इति श्रीफणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।"

हाँ, इस शान्तिवर्मा नामपरसे यह कहा जा सकता है कि समनंतभद्रने अपने मुनि-जीवनसे पहले इस ग्रन्थकी रचना की होगी; परन्तु ग्रन्थके साहित्यपर से इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्यमहोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी

---

१ यह उरगपुर 'उरैयूर' का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम जान पड़ता है, जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी, पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तट पर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धिशाली जनपद था।

जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनि-अवस्थाकी ही मालूम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापाण्डित्यपूर्ण और महदुच्चभावसम्पन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये संपूर्ण ग्रन्थको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १६, ७६, और ११४ को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १६वें पद्यसे ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी संसारमें भय-भीत होनेपर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रहको छोड़कर) वीतराग भगवानकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे और आपका आचार उस समय (ग्रन्थरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ तथा गणधरादि-अनुष्ठित आचार-जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

पूत-स्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार '**पूतस्वनवमाचारं**'[1] और '**भयात् तन्वायातं**'[2] ये अपने (मा=मां पदके) दो-खास विशेषण-पद दिये हैं उसी प्रकार ७६ वें पद्यमें उन्होंने '**ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं**' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि त्रास-उद्वेग बिल्कुल नष्ट (अस्त) नहीं

---

१ "पूतः पवित्रः सु सुष्ठु अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः, आचारः पाप-क्रिया-निवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारं" इति टीका'

२ "भयात संसारभीतेः। तन्वा शरीरेण (सह) आयातं आगतं।"—इति टीका

हुआ था—सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था–फिर भी वह ध्वंसमान-के समान हो गया था और इस लिये उनके चित्तको उद्वेजित अथवा सन्त्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊंचे दर्जेपर जाकर होती है और इसलिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है कि इस ग्रन्थकी रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है। ११४ वें पद्यकी भी ऐसी ही स्थिति है। उसमें समन्तभद्रने वीरजिनेन्द्रके प्रति अपनी जिस सेवा अथवा अर्हद्भक्तिका उल्लेख किया है वह गृहस्थावस्थामें प्राय: नहीं बनती। उसके 'सुस्तुत्यां व्यसनं' इस उल्लेखसे तो यह साफ जाना जाता है कि यह 'स्तुतिविद्या' ग्रन्थ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही स्तुतियों—स्तुतिग्रन्थोंका निर्माण कर चुके थे और स्तुति- रचना उनका एक अच्छा व्यसन बन गया था। आश्चर्य नहीं जो **देवागम** (आप्तमीमांसा), **युक्त्यनुशासन** और **स्वयम्भू** नामके स्तोत्र इस ग्रन्थसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र अपने स्तुति-व्यसनको 'सुस्तुति व्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों।

टीकाकारने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें, '**श्रीसमन्तभद्राचार्य-विरचित**' लिखनेके अतिरिक्त ८४ वें पद्यमें आए हुए '**ऋद्धं**' विशेषणका अर्थ '**वृद्धं**' करके, और ११५ वें पद्यके '**वन्दीभूतवत:**' पदका अर्थ '**मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोऽपि मम**' ऐसा देकर यही सूचित किया है कि यह ग्रन्थ समन्तभद्रके मुनिजीवनकी रचना है।

स्वामी समन्तभद्रका, उनकी कृतियोंसहित, विशेष परिचय

देनेका यहां अवसर नहीं है। उसके लिये तो इन पंक्तियोंके लेखकका लिखा हुआ 'स्वामी समन्तभद्र' नामका वह विस्तृत निबन्ध (इतिहास) देखना चाहिये जो माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रवकाचारके साथ, ८४ पेजोंकी प्रस्तावनाके अनन्तर,२५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अंकित है और जो विषय-सूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ अलग भी प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें सिर्फ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि, जैन समाजके प्रतिभाशाली आचार्यों,समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें स्वामी समन्तभद्रका आसन बहुत ऊँचा है। वे स्याद्वाद-विद्याके नायक थे, एकान्त--पक्षके निर्मूलक थे,अबाधित शक्ति थे, सातिशय योगी थे, सातिशय वादी तथा वाग्मी[1] थे। कवि एवं कविब्रह्मा थे, उत्तम गमक[2] थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशान्त थे, गम्भीर थे, उदारचेता थे सिद्धसारस्वत थे, हित-मित-भाषी थे, लोकके अनन्यहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, अकलंक–विद्यानन्दादि–जैसे बड़े-बड़े आचार्यों तथा महान् विद्वानोंसे स्तुत्य एवं वन्द्य थे और जैन-शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे। एक शिलालेख[3] में उन्हें **'जिनशासनका प्रणेता'** तक लिखा है और दूसरे शिला-लेख[4] में भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करते

१ जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्द-चातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण हो उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

२ जो दूसरेकी कृतियोंके मर्मको समझने-समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं।

३ श्रवणबेल्गोलका शिलालेख नं० १०८ (२५८)

४ यह बेलूरताल्लुकेका शिलालेख नं० १७ है, शक सं० १०५९ में उत्कीर्ण हुआ है और इस समय रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतमें लगा है।

हुए उनका उदयको प्राप्त होना अंकित किया है। उनको 'अर्हद्भक्ति' बहुत बढ़ी चढ़ी थी और बड़े ही उच्चकोटिके विकासको लिये हुए थी। उसमें अन्धश्रद्धा अथवा अन्ध विश्वासको स्थान नहीं था—गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इसलिये वह एक दम शुद्ध तथा निर्दोष थी। अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समन्तभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस बातका अनुभव किया था, और इसी लिये वे प्रस्तुत ग्रन्थमें लिखते हैं—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते
हस्तावंजलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

'हे वीर भगवन्! आपके मतमें अथवा आपके विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है - सदा आपका ही स्मरण किया करती है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूं, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुण-कथाको सुनने में लीन रहते हैं, मेरी आंखें आपके ही सुन्दर रूपको देखा करती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है। इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह आराधन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजःपते! (केवलज्ञानस्वामिन्!) मैं तेजस्वी हूं, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान्) हूँ।

समन्तभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थङ्कर होनेके योग्य पुण्य संचय कर सके हैं। इसीसे अनेक ग्रन्थोंमें आपके 'भावी तीर्थङ्कर' होनेका विधान पाया जाता है[1]। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर-सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर समन्तभद्रकी बड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा हैं और यह बिल्कुल ठीक है। उनके उपलब्ध ग्रंथोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समन्तभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ (स्तुतिविद्या) को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन आपके खास स्तुति-ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती अथवा बहुत ही कम पाई जाती है। समन्तभद्रने अपने स्तुति-ग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार तथा विकास किया है और इसीलिये वे 'स्तुतिकार' कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका गौरव प्राप्त था।

समन्तभद्र कांची (दक्षिण-काशी अथवा कांजीवरम्) के नग्नाटक थे—निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु थे। आपने लोकहितकी

---

1 देखो, विक्रान्तकौरव, जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय, षट्प्राभृत-टीका (श्रुतसागर), आराधनाकथाकोश, राजावलिकथे और 'अट्ठहरी नव-पडिहरि' नामकी प्रसिद्ध गाथा अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृष्ठ ६२, ६३,

भावनासे भारतके दक्षिण-उत्तर प्रदेशोंकी बहुत बड़ी सफल यात्रा की थी और अपने आत्मबल, युक्तिबल तथा चरित्रबलके आधारपर असंख्य प्राणियोंको सन्मार्गपर लगाया था। बादको अपनी कृतियोंद्वारा वे सभी आचार्योंके पथ-प्रदर्शक रहे हैं और रहे चले जाते हैं। आपका अस्तित्व-काल विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है।

टीकाकारादि-परिचय

इस ग्रन्थके संस्कृत टीकाकारका विषय कुछ जटिल हो रहा है। आम-तौरपर इस टीकाके कर्ता नरसिंह नामके कोई महाकवि समझे जाते हैं, जिनका विशेष परिचय अज्ञात है, और उसका कारण प्रायः यही जान पड़ता है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें इस टीकाको 'श्रीनरसिंहमहाकविभव्योत्तमविरचिता' लिखा है[1]। स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने इस ग्रन्थका 'जिनशतक' नामसे जो पहला संस्करण सन् १६१२ में जयपुरकी एक ही प्रतिके आधारपर प्रकट किया था उसके टाइटिल पेजपर नरसिंहके साथ 'भट्ट' शब्द और जोड़कर इसे 'नरसिंहभट्टकृतव्याख्या' बना दिया था और तबसे यह टीका नरसिंहभट्टकृत समझी जाने लगी है। परन्तु 'भट्ट' विशेषणकी जयपुरकी किसी प्रतिमें तथा देहली धर्मपुराके नया मन्दिरको प्रतिमें भी उपलब्धि नहीं हुई और इसलिये नरसिंहका यह 'भट्ट' विशेषण तो व्यर्थ ही जान पड़ता है। अब देखना यह है कि इस टीकाके कर्ता वास्तवमें नरसिंह ही हैं या कोई दूसरे विद्वान्।

---

१ बाबा दुलीचन्दजी जयपुरके शास्त्रभण्डारकी प्रति नं० २१६ और २६६ के अन्तमें लिखा है—"इति कविगमकवादिवाग्मित्वगुणालंकृतस्य श्रीसमन्तभद्रस्य कृतिरियं जिनशतालंकार नाम समाप्ता॥ टीका श्रीनरसिंहमहाकविभव्योत्तमविरचिता समाप्ता॥

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थके ३२ वें प्रकरणमें इस चर्चाको उठाया है और टीकाके प्रारम्भमे दिये हुए सात[2] पद्योंकी स्थिति और अर्थपर विचार करते हुए अपना जो मत व्यक्त किया है उसका सार इस प्रकार है—

(१) इस टीकाके कर्ता 'नरसिंह' नहीं किन्तु 'वसुनन्दि' जान पड़ते हैं अन्यथा ६ठे पद्यमें प्रयुक्त 'कुरुते वसुनन्द्यपि' वाक्यकी संगति नहीं बैठती ।

(२) एक तो नरसिंहकी सहायतासे और दूसरे स्वयं स्तुतिविद्या के प्रभावसे वसुनन्दि इस टीकाका बनानेमें समर्थ हुए ।

(३) पद्योंका ठीक अभिप्राय समझमें न आनेके कारण ही भाषाकार (पं० लालाराम) ने इस वृत्तिको अपनी कल्पनासे 'भव्योत्तमनरसिंहभट्टकृत' छपा दिया ।

इस मतकी तीसरी बातमें तो कुछ तथ्य मालूम नहीं होता; क्योंकि हस्तलिखित प्रतियोंमें टीकाको भव्योत्तम नरसिंहकृत लिखा ही है और इसलिये 'भट्ट' विशेषणको छोड़कर वह भाषाकार की कोई निजी कल्पना नहीं है। दूसरी बातका यह अंश ठीक नहीं जँचता कि वसुनन्दिने नरसिंहकी सहायतासे टीका बनाई; क्योंकि नरसिंहके लिये परोक्षभूतकी क्रिया 'बभूव' का प्रयोग किया गया है, जिससे मालूम होता है कि वसुनन्दिके समयमें उसका अस्तित्व नहीं था। अब रही पहली बात, वह प्रायः ठीक जान पड़ती है; क्योंकि टीकाके नरसिंह-

२ बाबा दुलीचन्दजी जयपुरके भंडारकी मूल ग्रन्थकी दो प्रतियों नं० ४१९, ४२४ में भी ये सातों पद्य दिये हुए हैं, जो कि लेखकोंकी असावधानी और नासमझीका परिणाम है; क्योंकि मूलकृतिके ये पद्य कोई अंग नहीं हैं।

कृत होनेसे उसमें छठे पद्यकी ही नहीं किन्तु चौथे पद्यकी भी स्थिति ठीक नहीं बैठती। ये दोनों पद्य अपने मध्यवर्ती पद्य-सहित निम्न प्रकार है :—

तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः।
यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥ ४ ॥
दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः।
नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥ ५ ॥
स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः।
तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥ ६ ॥

यहाँ ४थे पद्य में यह बतलाया है कि 'जबतक एक नरसिंह नामका सूर्य उस भूतकाल में उदित नहीं हुआ था जो अपने लिये परोक्ष है, तब तक विद्वानोंका यह मत था कि समन्तभद्रकी 'स्तुतिविद्या' नामकी सुपद्मिनीका कोई प्रबोधक—उसके अर्थको खोलने-खिलाने वाला—नहीं है।' इस वाक्यका, जो परोक्षभूतके क्रियापद 'बभूव' को साथमें लिये हुए है, उस नरसिंहके द्वारा कहा जाना नहीं बनता जो स्वयं टीकाकार हो। पाँचवें पद्यमें यह प्रकट किया गया है कि 'महान् पुरुषोंका ऐसा वचन सुना जाता है कि नरसिंहको प्राप्त हुआ दुर्गमसे दुर्गम काव्य भी सुगमसे सुगम हो जाता है।' इसमें कुछ बड़ोंकी नरसिंहके विषयमें काव्यमर्मज्ञ होने विषयक सम्मतिका उल्लेखमात्र है और इसलिये यह पद्य नरसिंहके समयका स्वयं उसके द्वारा उक्त तथा उसके बादका भी हो सकता है। शेष छठे पद्यमें स्पष्ट लिखा ही है कि स्तुतिविद्याको समाश्रित करके किसकी बुद्धि नहीं चलती?—जरूर चलती और प्रगति करती है। यही वजह है कि जडमति होते हुए वसुनन्दी भी उस स्तुति-

विद्याकी वृत्ति कर रहा है। और इससे अगले पद्यमें आश्रय-का महत्त्व ख्यापित किया गया है।

ऐसी स्थितिमें यही कहना पड़ता है कि यह वृत्ति (टीका) वसुनन्दीकी कृति है—नरसिंहकी नहीं। नरसिंहकी वृत्ति वसुनन्दीके सामने भी मालूम नहीं होती, इसी लिये प्रस्तुत वृत्तिमें उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है वह उस समय तक नष्ट होचुकी थी और उसकी 'किंवदन्ती' मात्र रह गई थी। अस्तु; इस वृत्तिके कर्ता वसुनन्दी संभवतः वे ही वसुनन्दी आचार्य जान पड़ते हैं जो देवागमवृत्तिके कर्त्ता हैं; क्योंकि वहाँ भी 'वसुनन्दिना जडमतिना' जैसे शब्दोंद्वारा वसुनन्दीने अपनेको 'जड़मति' सूचित किया है और समन्तभद्रका स्मरण-भी वृत्तिके प्रारंभमें किया गया है। साथ ही, दोनों वृत्तियोंका ढंग भी समान हैं—दोनोंमें पद्योंके पदक्रमसे अर्थ दिया गया है और 'किमुक्तं भवति', 'एतदुक्तं भवति'—जैसे वाक्योंके साथ अर्थका समुच्चय अथवा सारसंग्रह भी यथारुचि किया गया है। हाँ, प्रस्तुत वृत्तिके अन्तमें समाप्ति-सूचक वैसे कोई गद्यात्मक या पद्यात्मक वाक्य नहीं हैं जैसे कि देवागमवृत्तिके अन्तमें पाये जाते है। यदि वे होते तो एककी वृत्तिको दूसरेकी वृत्ति समझ लेने जैसी गड़बड़ ही न हो पाती। बहुत संभव है कि वृत्तिके अन्त में कोई प्रशस्ति-पद्य हो और वह किसी कारणवश प्रति लेखकोंसे छूट गया हो, जैसा कि अन्य अनेक ग्रन्थोंकी प्रतियोंमें हुआ है और खोजसे जाना गया है। उसके छूट जाने अथवा खण्डित हो जानेके कारण ही किसीने उस पुष्पिकाकी कल्पना की हो जो आधुनिक (१०० वर्षके भीतरकी) कुछ प्रतियोंमें पाई जाती है। इस ग्रन्थकी अभी तक कोई प्राचीन प्रति सामने नहीं आई। अतः प्राचीन प्रतियोंकी खोज होनी चाहिये,

तभी दोनों वृत्तियोंका यह सारा विषय स्पष्ट हो सकेगा।

यह टीका यद्यपि साधारण प्रायः पदोंके अर्थबोधके रूपमें है—किसी विषयके विशेष व्याख्यानको साथमें लिये हुए नहीं है—फिर भी मूल ग्रन्थमें प्रवेश पानेके इच्छुकों एवं विद्यार्थियोंके लिये बड़ी ही कामकी चीज है। इसके सहारे ग्रन्थ-पदोंके सामान्यार्थ तक गति होकर उसके भीतर (अन्तरंगमें) संनिहित विशेषार्थको जानने की प्रवृत्ति हो सकती है और वह प्रयत्न करनेपर जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। ग्रन्थका सामान्यार्थ भी उतना ही नहीं है जितना कि वृत्तिमें दिया हुआ है बल्कि कहीं कहीं उससे अधिक भी होना संभव है, जैसा कि अनुवादकके उन टिप्पणोंसे भी जाना जाता है जिन्हें पद्य नं० ५३ और ८७ के सम्बन्धमें दिया है। होसकता है कि इस ग्रन्थपर कवि नरसिंहकी कोई वृहत् टीका रही हो और अजितसेनाचार्यने अपने अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थमें, ५३वें पद्यको उद्धृत करते हुए उसके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले जिन तीन पद्योंको साथमें दिया है और जिन्हें अनुवादकने टिप्पण (पृ० ६४) में उद्धृत किया है वे उक्त टीकाके ही अंश हों। यदि ऐसा हो तो उस टीकाको पद्यात्मक अथवा गद्य-पद्यात्मक समझना चाहिये[1]।

इस ग्रन्थका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी 'वसन्त' ने किया है, जो कि 'गणेश-दिगम्बर-जैनविद्यालय' सागरमें साहित्य तथा व्याकरण-विषयके अध्यापक हैं और अनुवाद-कार्यमें अच्छी दिलचस्पी रखते हैं। यह

---

1. अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थ इस समय मेरे सामने नहीं है, देहलीमें खोजनेपर भी उसकी कोई प्रति नहीं मिल सकी, इसीसे इस विषयका कोई विशेष विचार यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

अनुवाद उन्होंने मेरी प्रेरणाको पाकर उसे मान देते हुए बड़े ही उदार एवं सेवाभावसे प्रस्तुत किया है अतः इसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ! अनुवाद कैसा रहा, इसके बतलानेकी यहां जरूरत नहीं, विज्ञ पाठक स्वयं ही उसे पढ़ते समय समझ सकते हैं। हाँ, अनुवादकजीने अपने 'दो शब्दों' में जो यह प्रकट किया है कि 'जिस रूपमें इसे जनताके समक्ष रखना चाहता था उस रूपमें साधनाभावके कारण नहीं रख सका हूँ' वह अनेक अंशोंमें ठीक जरूर है; फिर भी यह अनुवाद पूर्व प्रकाशित अनुवादसे बहुत अच्छा रहा है। इसमें चित्रालंकारोंकी अच्छी चर्चा की गई है और विषयके स्पष्टीकरणादिकी दृष्टिसे दूसरी भी अनेक अच्छी बातोंका समावेश हुआ है। संशोधनका भी कितना ही कार्य अनुवादकजीके द्वारा हुआ है परन्तु उसका अधिकांश श्रेय देहली-धर्मपुराके नया मन्दिरकी उस हस्तलिखित प्रतिको प्राप्त हैं जिस परसे मैंने बहुत वर्ष पहले अपनी प्रतिमें मिलानके नोट कर रक्खे थे और जिनके आधारपर अनेक त्रुटित पाठों तथा दूसरे संशोधनोंको टीकामें छपते समय स्थान दिया गया है। साथमें पद्यानुक्रमकी भी योजना की गई है और चित्रालंकारोंको समझनेके लिये परिशिष्टमें कुछ सूचनाएँ भी कर दी गई हैं। इस तरह ग्रन्थके प्रस्तुत संस्करणको उपयोगी बनानेकी यथासाध्य चेष्टा की गई है। आशा है पाठक इससे जरूर उपकृत होंगे।

दरियागंज, देहली
ता० २१ जुलाई १९५०

जुगलकिशोर मुख्तार

मगलाचरण

यच्चेतोर्जलधेर्जातं स्तुतिविद्या-सुधाभरम् ।
निपीय निर्जरी जाता विबुधा जगती-तले ॥१॥

उद्दण्ड-वादि-वेतण्ड-गण्ड-मण्डल-दण्डनः ।
जीयात्समन्तभद्रोऽसौ जिताऽभद्र-ततिः सदा ॥२॥

—अनुवादक

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित—

स्तुति-विद्या

अपर नाम

जिन-शतक

संस्कृतटीका तथा हिन्दी अनुवाद-सहित

(टीकाकारस्य मंगलाचरणम्)

नमो वृषभनाथाय लोकाऽलोकाऽवलोकिने ।
मोहपङ्कविशोषाय भासिने जिनभानवे ॥१॥
समन्तभद्रं सद्बोधं[1] स्तुवे वर-गुणालयम् ।
निर्म्मलं यद्यशस्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥२॥
यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।
जिनशतकनामेति योगिनामपि दुष्करा ॥३॥
तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः ।
यावत्तावद्भवैको नरसिंहो विभाकरः ॥४॥
दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।
नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥५॥
स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।
तद्वृत्तिं येन[2] जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥६॥
आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः ।
गिरिराजं श्रितःकाको धत्ते हि कनकच्छविम् ॥७॥

---

1 महाबोधं । 2 'तद्वृत्तिं यो न बोध्येत कुरुते वसुनन्द्यपि' इति पुस्तकान्तरे पाठः ।

वृषभादि-चतुर्विंशति-तीर्थकराणां तीर्थंकरनामकर्मोदयवायुसमूहोद्वर्तितसौधर्मेन्द्रादिसुरवरसेनावारिधिभाक्तिकजनसमुपनीतेज्याविधानार्हाणां घातिकर्मक्षयानन्तरसमुद्भूतविषयीकृतानेकजीवादिद्रव्यत्रिकालगोचरानन्तपर्यायकेवलज्ञानानां स्तुतिरियं जिनशतकनामेति। तस्याः समस्तगुणगणोपेतायाः सर्वालंकारभूषितायाः घनकठिनघातिकर्म्मेन्धनदहनसमर्थायाः तार्किकचूडामणिश्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचितायाः संक्षेपभूतं विवरणं क्रियते।

ऋषभस्तुतिः

(मुरजबन्धः[1])

श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं प्रतिपद्याऽऽगसां जये।
कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥ १ ॥

श्रीमज्जिनेति। पूर्वार्द्धमेकपंक्त्याकारेण व्यवस्थास्य पश्चार्द्धमप्येकपंक्त्याकारेण तस्याधः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः। प्रथमपंक्तेः

---

१ 'मुरजबन्ध' नामक चित्रालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—

'पूर्वार्धमूर्ध्वपङ्क्तौ तु लिखित्वार्द्धं परं त्वतः।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत्कविः ॥'

'पूर्वार्धमेकपङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्य पश्चार्द्धमप्येकपङ्क्त्याकारेण तस्याधः कृत्वा मुरजबन्धोनिरूपयितव्यः। प्रथम पङ्क्तेः प्रथमाक्षरं द्वितीयपङ्क्ते द्वितीयाक्षरेण सह, द्वितीयपङ्क्तेः प्रथमाक्षरं प्रथम पङ्क्तेर्द्वितीयाक्षरेण सह, एवमुभयपङ्क्त्यक्षरेषु सर्वेषु संयोज्यमाचरमात्।'

—अलंकारचिन्तामणिः

अर्थात्— पहले श्लोकके पूर्वार्धको पंक्तिके आकारमें लिख कर, उत्तरार्धको भी पंक्तिके आकार में उसके नीचे लिखे। इस अलंकारमें प्रथम पंक्तिके प्रथम अक्षरको द्वितीय पंक्तिके द्वितीय अक्षरके साथ और द्वितीय पंक्तिके प्रथम अक्षरको प्रथम पंक्तिके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यही क्रम श्लोकके अन्तिम अक्षर तक जारी

प्रथमाक्षरं द्वितीयपंक्ते द्वितीयाक्षरेण सह, द्वितीयपंक्तेः प्रथमाक्षरं प्रथमपंक्ते द्वितीयाक्षरेण सह एवमुभयपंक्त्यक्षरेषु सर्वेषु संयोज्यम् । एवं सर्वेऽपि मुरजबन्धा द्रष्टव्याः ।

रखना चाहिये । यह सामान्य 'मुरजबंध' का लक्षण है । यह अलंकार इस स्तुतिविद्याके २, ६, ७, ८, ९, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३९, ४०, ४१, ४२, ४५, ४९, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ९९, १०१, १०२, १०३, १०४, और १०५ नम्बरके पद्यों में भी है। इस मुरजबन्ध का चित्र परिशिष्ट में देखिये । 'मुरजबन्ध' की रचना मुरज (मृदङ्ग) के आकार हो जाती है, इस लिए इसका यह नाम सार्थक है।

यह अलंकार 'अनन्तरपादमुरज' 'इष्टपादमुरज' आदिके भेदसे कई तरहका होता है । 'अनन्तरपादमुरज' प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ पादमें होता है । यह भेद इस पुस्तकके ४८, ६४, ६६, और १०० नम्बरके श्लोकोंमें है । इन श्लोकोंके चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिये । चित्र परिशिष्टमें देखिये । 'इष्टपादमुरज' में चारों पादोंका अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध जोड़ा जाता है । यह भेद इस पुस्तकके ५०, ८९, और ९१ नम्बरके श्लोकों में है । इसके भी चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिये । यह अलंकार कई जगह गुप्तक्रिया, गुप्तकर्म, निरोष्ठ्यव्यञ्जनचित्र, गोमूत्रिका, पद्मबन्ध तथा यमक आदिके साथ भी आता है । वहाँ दो शब्दालङ्कारोंकी तिल-तण्डुलवत् निरपेक्ष संसृष्टि समझना चाहिये । अलङ्कारचिन्तामणि में मुरज-बन्ध बनानेका एक प्रकार और भी लिखा है जो कि इस पुस्तकके ६ नम्बरके श्लोकमें अपनाया गया है । वह यह है—

श्लोकके चारों पदोंको नीचे-नीचे लिखकर प्रथम पादके प्रथम अक्षर को तृतीय पादके, द्वितीय अक्षरके साथ और तृतीय पादके प्रथम अक्षरको प्रथम पादके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये । यह क्रम पादकी समाप्ति पर्यन्त जारी रहता है । फिर द्वितीय पादके

अस्य विवरणं क्रियते । श्रीर्विद्यते यस्य स श्रीमान् जिनस्य पदाभ्याशः पदसमीपं जिनपदाभ्याशः श्रीमांश्चासौ जिनपदाभ्याशश्च श्रीमज्जिन-पदाभ्याशस्तं श्रीमज्जिनपदाभ्याशं । प्रतिपद्य संप्राप्य प्रतिपद्येति प्रति-पूर्वस्य पदेः क्त्वान्तस्य प्रयोगः । आगमां पापानां जये जयहेतोर्निमित्ते इदमियम् । कामं इष्टं कमनीयं इच्छा वा स्थानं निवासः कामं च तत्स्थानं च कामस्य वा स्थानं कामस्थानं तस्य प्रदानं कामस्थानप्रदानं अथवा कामश्च स्थानं च कामस्थाने तयोः प्रदानं कामस्थानप्रदानं तस्य ईशः कामस्थानप्रदानेशः तं कामस्थानप्रदानेशं, प्रथमपादेन सह सम्बन्धः । स्तुतिरेव विद्या स्तुतिविद्या तां प्रसाधये अहमिति सम्बन्धः । अथवा कामस्थानप्रदानेशमिति स्तुतिविद्याया विशेषणम्, कामस्थानप्रदानस्य ईष्ट इति कामस्थानप्रदानेट् अतस्तां । किमुक्तं भवति—श्रीमज्जिनपदा-भ्याशं प्रतिपद्य स्तुतिविद्यां प्रसाधयेऽहं किं विशिष्टां स्तुतिविद्यां कथं-

---

प्रथम अक्षरको चतुर्थ पादके द्वितीय अक्षरके साथ और चतुर्थ पादके प्रथम अक्षरको द्वितीय पादके द्वितीय अक्षरके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह क्रम भी पादको समाप्ति-पर्यन्त जारी रहता है।

अलंकारचिन्तामणिमें मुरजबन्ध आदि चित्रालंकारोंका जो विस्तृत वर्णन किया गया है, वह जिनशतकालंकारकी संस्कृत टीकाके आधारपर किया गया मालूम होता है। अभी हमने ऊपर मुरजबन्ध-के जो संस्कृत लक्षण अलंकारचिन्तामणिमे उद्धृत किये हैं उनमें से 'पूर्वार्धमेकं' श्लोकको छोड़कर सब ज्यों-का-त्यों जिनशतकालंकारके प्रथम और छठवें श्लोककी संस्कृत टीकाके वाक्योंसे मिलता है। जिन-शतकालंकारके कई श्लोक संस्कृतटीका—सहित अलंकारचिन्तामणिमें उद्धृत किये गये हैं। यह बात अलंकारचिन्तामणिके कर्ताने स्वयं अपने शब्दोंमें स्वीकृत की है। यथा—

श्रीमत्समन्तभद्रार्य-जिनसेनादिभाषितम् ।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥२८॥

भूतं वा जिनपदाभ्याशं कामस्थानप्रदानेशं । किमर्थं आगसां जये जयनिमित्तं । प्रसाधये इति च प्रपूर्वस्यसाध संसिद्धावित्यस्य धोः णिजन्तस्य लडंतस्य प्रयोगः ॥ १ ॥

अर्थ—कामस्थानको—इष्टस्थान (मोक्ष)को इन्द्रियसुखके स्थान स्वर्गादिकको, इन्द्रिय विषयोंकी रोक-थामको, अथवा सुख और संसार परिभ्रमणसे निवृत्ति रूप स्वात्मस्थिति इन दोनोंको प्रदान करनेमें समर्थ श्रीमान्—केवलज्ञान आदि लक्ष्मीसे सम्पन्न—जिनेन्द्रदेवके पद-सामीप्यको प्राप्त करके—उनके चरण-शरणमें जाकर, पापोंको जीतनेके लिये मोहादिक पापकर्मों अथवा हिंसादिक दुष्कृतों पर विजय प्राप्त करनेके लिए - मैं इस स्तुतिविद्याको प्रसाधना करना चाहता हूं—उसे सब प्रकारसे सिद्ध करनेके लिए उद्यत हूं—जो उत्तम कामस्थानको प्रदान करनेमें समर्थ है।

भावार्थ—स्तुतिरूप विद्याकी सिद्धिमें भले प्रकार संलग्न होनेसे शुभ परिणामोंद्वारा पापोंपर विजय प्राप्त होती है और उसीका फल उक्त कामस्थानकी संप्राप्ति है। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र जिनेन्द्रदेवके सन्मुख जाकर—उनकी वीतरागमूर्तिके सम्मुख स्थित होकर अथवा उसे अपने हृदयमन्दिरमें विराजमान कर—उनकी यह स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ॥१॥

(मुरजबन्धो गोमूत्रिकाबन्धश्च)

स्नात स्वमलगम्भीरं जिनामितगुणार्णवम् ।
पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायात क्षणाच्छिवम् ॥ २ ॥

स्नात स्वमलेति । मुरजबन्धः पूर्ववद्द्रष्टव्यः । स्नात इति क्रियापदं ष्णा शौच इत्यस्य धोः लोडंतस्य रूपं । सुष्ठु न विद्यते मलं यस्य स स्वमलः गंभीरः अगाधः स्वमलश्चासौ गंभीरश्च स्वमलगंभीरः अतस्तं स्वम-

लगंभीरम् । न मिताः अमिताश्च ते गुणाश्च ते अमितगुणाः जिनस्यामित-गुणाः जिनामितगुणाः जिनामितगुणा एव अर्णवः समुद्रः अथवा जिन एव अमितगुणार्णवः जिनामितगुणार्णवस्तं । पूतः पवित्रः श्रीमान् श्रीयुक्तः जगतां सारो जगत्सारः पूतश्च श्रीमांश्च जगत्सारश्च पूतश्रीमज्ज-गत्सारः तं । जनाः लोकाः । यात इति क्रियापदं । या गताविस्यस्य धोः लोडंतस्य प्रयोगः । क्षणाद्चिराद्चिरेणेत्यर्थः । शिवं शोभनं शिवरूप-मित्यर्थः । किमुक्तं भवति––हे जना जिनामितगुणार्णवं यात, स्नात अथवा जिनामितगुणार्णवं स्नात येन क्षणाच्छिवं यात इति । शेषाणि पदानि जिनामितगुणार्णवस्य विशेषणानि ॥२॥

अर्थ—हे भव्यजनो ! जिनेन्द्रदेव का जो अपरिमित गुण-समुद्र है वह अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, पवित्र, श्रीसम्पन्न और जगत्का सारभूत है। तुम उसमें स्नान करो—एकाग्र चित्त होकर उसमें अवगाहन करो, उसके गुणोंको पूर्णतया अप-नाओ और (फलस्वरूप) शीघ्र ही शिवको—आत्मकल्याण-को—प्राप्त करो ।

भवार्थ—उक्त गुणविशिष्ट जिनगुणसमुद्रमें भक्तिपूर्वक स्नान करनेसे--श्रद्धाके साथ जिनेन्द्र गुणोंको आत्मगुण समझकर अपनानेसे—शीघ्र ही आत्मकल्याण सधता है। इसीसे जिन गुणसमुद्रमें स्नानकी सार्थक प्रेरणा की गई है ॥२॥

(अर्द्धभ्रमगूढपश्चार्द्धः[1])

धिया ये श्रितयेतार्त्या यानुपायान्वरानताः ।
येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽयातानतन्वत ॥ ३ ॥

१ यहां अर्धभ्रम और गूढपश्चार्ध नामक चित्रालंकार है। उसका विवरण निम्न प्रकार है—

श्लोकके चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखिये। चरों चरणोंके प्रथम और अन्तिम चार अक्षरोंके मिलानेसे श्लोकका पहला पाद बन

आसते सततं ये च सति पुर्वक्षयालये।
ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा माऽभिरक्षत ॥४॥

(युग्मम्[२])

धियेति। अर्द्धभ्रमगूढपश्चार्द्धः। कोऽस्यार्थः चतुरोऽपि पादानधोऽधो विन्यस्य चतुर्णां पादानां चत्वारि प्रथमाक्षराणि अन्त्याक्षराणि चत्वारि-गृहीत्वा प्रथमः पादो भवति। पुनरपि तेषां द्वितीयाक्षराणि चत्वार्यन्त्य-समोपाक्षराणि च चत्वारि गृहीत्वा द्वितीयः पादो भवति। एवं चत्वारोऽपि पादाः साध्याः। अनेन न्यायेन अर्द्धभ्रमो भवति। प्रथमार्द्धे यान्यक्षराणि तेषु पश्चिमार्द्धाक्षराणि सर्वाणि प्रविशन्ति। एकस्मिन्नपि समानाक्षरे

जाता है। उन्हीं चारों चरणोंके द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलानेसे द्वितीय पाद बन जाता है। इसी तरह तृतीय और चतुर्थ पाद भी सिद्ध कर लेना चाहिये। इस न्यायसे यह श्लोक अर्धभ्रम कहलाता है। इस श्लोकके पूर्वार्धमें जो अक्षर आये हैं उन्हींमें उत्तरार्धके सब अक्षर प्रविष्ट हो जाते हैं। एक समान अक्षरमें अनेक समानाक्षरोंका भी प्रवेश हो सकता है। इसलिये इसे गूढ पश्चार्ध (जिसका पश्चार्ध भाग पूर्वार्ध भागमें भी गुप्त हो जावे) कहते हैं। (अलंकारचिन्तामणि पृष्ठ ३६) यह अलंकार इस पुस्तकके ४, १८, १६, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६० और ६२ नम्बरके श्लोकोंमें भी है। इस अलंकारमें कभी द्वितीय, कभी तृतीय और कभी चतुर्थ पाद भी गूढ हो जाता है। जैसे कि इसी पुस्तकके ३६वें श्लोकमें द्वितीयपाद और ४३वें श्लोकमें चतुर्थपाद गूढ हो गया है। अर्धभ्रकका चित्र परिशिष्टमें देखिये।

[२] 'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'

दो, तीन, चार और उसके ऊपरके श्लोकोंमें क्रियासम्बन्ध होनेपर क्रमसे उनकी युग्म, विशेषक, कलापक, और कुलक संज्ञा होती है।

बहूनामपि समानाक्षराणां प्रवेशो भवति। अतो गूढपश्चार्द्धोऽप्ययं भवति। एवमेव जातीयाः श्लोका मृग्याः।

धिया बुद्ध्या। ये यदो रूपं। श्रितया आश्रितया सेव्यया इत्यर्थः। इता, विनष्टा अर्त्तिः मनःपीडा यस्याः सेयमितार्तिः तया। यान् यदः शसंतस्य प्रयोगः। उपायान् उपपूर्वस्य अयगतौ अस्याजन्तस्य रूपं उपगम्यानित्यर्थः। वराः प्रधानाः इन्द्रादयः नताः प्रणताः। ये च वक्ष्यमाणेन च शब्देन सह संबन्धः। न विद्यते पापं येषां ते अपापाः शुद्धाः कर्मरहिता इत्यर्थः। यातं पारं यैस्ते यातपाराः अधिगतसर्वपदार्थाः इत्यर्थः। ये च श्रीलक्ष्मीस्तया आयातान् अतन्वत तनु विस्तारे इत्यस्य धोर्लुङन्तस्य रूपम्। यथा द्रव्येण राजानः आश्रितान् विस्तारयन्ति। उत्तरत्र क्रियापदं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः॥३॥

आसत इति। आसते आस उपवेशने इत्यस्य धोः लङन्तस्य प्रयोगः। सततं सर्वकालं। ये च, च शब्दः समुच्चये, यदः प्रयोगान् जसन्तान् समुच्चिनोति पूर्वप्रक्रान्तान्। सति शोभने सतः ईबन्तस्य रूपम्। न विद्यते क्षयः विनाशो यस्यासावक्षयः। आलयः अवस्थानम्। अक्षयश्चासावालयश्च अक्षयालयः, पुरुश्चासावक्षयालयश्च पुर्वक्षयालयः तस्मिन् पुर्वक्षयालये। ते तदः प्रयोगोऽयम्, यदः प्रयोगानपेक्षते। पुण्यं ददते इति पुण्यदाः। रतेनायातः रतायातः अतस्तम्। रागेणागतं भक्त्या गतमित्यर्थः। सर्वदा सर्वकालं। मा अस्मदः इबन्तस्य प्रयोगः। अभिरक्षत क्रियापदम्। अभिपूर्वस्य 'रक्ष पालने' इत्यस्य धोः लोडन्तस्य प्रयोगः। ते इति अभिरक्षत इति च यदो रूपेण जसन्तेन सह प्रत्येकमभिसम्बध्यते। किमुक्तं भवति—वराः यान् उपायान् नताः प्रणताः धिया, किं विशिष्टया श्रितया, पुनरपि इतार्त्या। किमुक्तं भवति—प्रेक्षापूर्वकारिभिः ये स्तुताः ते मा रतायातं अभिरक्षत, ये च अपापा ये च यातपाराः ये च श्रिया आयातान् प्रणतान् अतन्वत विस्तारयन्तिस्म ये च सति पुर्वक्षयालये सिद्धत्वपर्याये सततं आसते ये च पुण्यदाः ते यूयं मा सर्वदा रतेन भक्त्यागतं अभिरक्षत पालयत इत्युक्तं भवति ॥४॥

अर्थ—जो पीडारहित—अनन्तसुखसम्पन्न है, प्राप्त हुई—ज्ञानावरणकर्मके अत्यन्त क्षयसे उपलब्ध—केवलज्ञानरूपी बुद्धिसे सहित हैं; जिन्हें उपाय-उपगम्य-सेवनीक (समझकर) इन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष नमस्कार करते हैं; जो पाप-कर्ममलसे रहित हैं; जो (संसार-समुद्रके) पारको पा चुके हैं अथवा जिन्होंने सब पदार्थ जान लिये हैं; जो शरणमें आये हुए भव्यपुरुषोंको लक्ष्मीद्वारा विस्तृत करते हैं—केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे युक्त करते हैं और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्षमन्दिरमें सदा निवास करते हैं वे कल्याणप्रदाता जिनेन्द्र भगवान् भक्तिसे सन्मुख आये हुए मुझ भक्तकी सदा रक्षा करें—उनके भक्तिपूर्वक आराधनसे मैं अपना आत्मविकास करनेमें समर्थ हो सकूं ।।३, ४।।

(साधिकपादाभ्यासयमकः[1])

नतपीला[2]सनाशोक सुमनोवर्षभामितः[3] ।
भामण्डलासनाऽशोकसुमनोवर्षभाषितः ।।५।।

१ यहां प्रथम पादके अन्तिम पांच अक्षरों और द्वितीय पादकी पुनरावृत्ति की गई है, अतः 'साधिकपादाभ्यास यमकालंकार' है जिसका लक्षण निम्न प्रकार है :—

'श्लोकपादपदावृत्तिर्वर्णावृत्तिर्युताऽयुता ।
भिन्नवाच्यादिमध्यान्तविषया यमकं हि तत् ।।'

—अलंकार चिन्तामणि, पृष्ठ ४६ ।

जहां अर्थकी भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णोंकी पुनरावृत्ति होती है वहां यमकालंकार होता है । वह आवृत्ति पादके आदि मध्य अथवा अन्तमें होती है तथा कहीं अन्य पाद पद और वर्णोंसे व्यवहित होती है और कहीं अव्यवहित । अलंकारविषयके प्राचीन ग्रन्थोंमें इस अलंकारके अनेक भेद बतलाये हैं परन्तु

(गुप्तक्रियो मुरजबन्धः ।)

दिव्यै[१]र्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।
दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिर्जनैः ॥६॥

(युग्मं)

---

१ यहां आवश्यक समझ कर सिर्फ ११भेदोंका वर्णन किया जाता है—(१) जहां प्रथम और द्वितीय पादमें समानता हो उसे मुख यमक,(२)जहां प्रथम और तृतीय पाद में समानता हो उसे सन्दंश, (३) जहां प्रथम और चतुर्थपादमें समानता हो उसे आवृत्ति, (४) जहां द्वितीय तृतीय पाद में समानता हो उसे गर्भ, (५) जहां द्वितीय और चतुर्थपादमें समानता हो उसे संदष्टक, (६) जहां तृतीय और चतुर्थपादमें समानता हो उसे पुच्छ, (७) जहां चारों चरण एक समान हों उसे पंक्ति, (८) जहां प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय पाद एक समान हों उसे परिवृत्ति, (६) जहां प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद एक समान हों उसे युग्मक, (१०) जहां श्लोक का पूर्वार्ध और अपरार्ध एक समान हो उसे समुद्गक और (११) जहां एक ही श्लोक दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोकयमक कहते हैं । जैसे इस पुस्तकके ५वें श्लोकमें 'संदष्टक' यमक, १५वें श्लोकमें 'युग्मक' यमक २५वें और ५२वेंश्लोकमें 'समुद्गक' यमक, ११-१२ वें, १६-१७ वें, ३७-३८वें, ४६-४७ वें, ७६-७७वें, और १०६-१०७ वें श्लोकोंमें महायमक (श्लोकयमक) है । ये ११ भेद श्लोक, श्लोकार्ध, और पादकी आवृत्तिकी अपेक्षासे किये गये हैं । पादांश, पदांश, और वर्णोंकी आवृत्तिकी अपेक्षा अनेक भेद हो जाते हैं । देखो, निर्णयसागर बम्बईसे प्रकाशित साहित्यदर्पणकी टिप्पणी । यमकालंकारके भेद-प्रभेदोंका विशेष वर्णन सरस्वती कण्ठाभरण आदि आकरग्रन्थों में देखना चाहिये ।

१ दिवि भवैर्दिव्यैः पक्षे दिवि गगने+ऐः-गतवान् इति पदच्छेदः । ऐः इण् गताविति धातोर्लङि मध्यमपुरुषस्यैकवचने रूपम् । अत्र 'ऐः' इति क्रिया गुप्ता ।

नतपीलेति । प्रथमपादस्य पञ्चाक्षराणि अभ्यस्तानि पुनरुच्चारितानि द्वितीयपादश्च समस्तः पुनरुच्चारितः । नतानां प्रणतानां पीला व्याधयः डो लो वा इति लत्वन्ताः अस्यतीति नतपीलासनः । तस्य सम्बोधनं हे नतपीलासन । न विद्यते शोको यस्यासावशोकः तस्य सम्बोधनं हे अशोक । शोभनं मनोविज्ञानं यस्य सः सुमनाः तस्य सम्बोधनं हे सुमनः अव रक्ष अथवा वा समुच्चये द्रष्टव्यः। हे ऋषभ आदितीर्थकर । आसितः स्थितः सन् । भामण्डलं प्रभामण्डलं, आसनं सिंहासनं, अशोकः अशोक-वृक्षः, सुमनसः पुष्पाणि तेषां वर्षं सुमनोवर्षं पुष्पवृष्टिरित्यर्थः, तेषां द्वन्द्वः तैर्भासितः शोभितः भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्षभासितः सन् । किमुक्तं भवति—हे ऋषभ अव इत्यादि अथवा हे भटारक यदा त्वं स्थितः तदा एवं विधः सन् स्थितगतश्च त्वं यदा तदा एवंप्रकारैर्गतः । वक्ष्यमाणश्लोकेन सह सम्बन्धः ॥४॥

दिव्यैरिति । क्रिया पुनः तृतीयपादे गुप्ता दिव्यैरित्यत्र । अथवा मुरजबन्ध एवं द्रष्टव्यः तद्यथा—चतुरोपि पादानधोधो व्यवस्थाप्य प्रथम-पादस्य प्रथमाक्षरेण तृतीयपादस्य द्वितीयाक्षरं, तृतीयपादस्य प्रथमाक्षरं प्रथमपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह गृहीत्वा एवं नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिः । पुनर्द्वितीयपादस्य प्रथमाक्षरं चतुर्थपादस्य द्वितीयाक्षरेण, चतुर्थपादस्य प्रथमाक्षरेण सह द्वितीयपादस्य द्वितीयाक्षरं च गृहीत्वा पुनरनेन विधा-नेन तावन्नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिर्भवति । ततो मुरजबन्धः स्यात् ।

दिवि भवानि दिव्यानि अतस्तैर्दिव्यः द्वन्द्वं कृत्वा ध्वनिसितछत्र-चामरैः पुनरपि दुन्दुभिस्वनैः दिव्यैरिति प्रत्येकं समाप्यते । दिवि आकाशे ऐः गतवान् इण् गतावित्यस्य धोः लङन्तस्य रूपम् । विनिर्मितानि कृतानि स्तोत्राणि स्तवनानि विनिर्मितस्तोत्राणि तेषु । श्रमः अभ्यासः । नानाप्रकारेण मधुररवेण (स्वरेण) कृतस्तवनमित्यर्थः विनिर्मितस्तोत्रश्रमः स एव दर्दुरः वाद्यविशेषः विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरः । स येषामस्ति ते

विनिर्मितश्रमस्तोत्रदर्दुरिणः । तैः सह अथवा विनिर्मितस्तोत्रश्रमेण दर्दुरिणोतस्तैः सह जनैः समवसृतिप्रजाभिरित्यर्थः । किमुक्तं भवति—चतुर्णिकायदेवेन्द्रचक्रधरबलदेववासुदेवप्रभृतिभिः सह गतः स्थितश्च भवान्, ततो भवानेव परमात्मा एतदुक्तं भवति ॥६॥

अर्थ—हे ऋषभदेव ! आप नम्र मनुष्योंकी सांसरिक व्यथाओंको हरने वाले हैं, शोकरहित हैं, आपका हृदय उत्तम है—लोककल्याणकारक भावनासे पूर्ण है । हे प्रभो ! आप भामण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, मनोहर दिव्यध्वनि, श्वेतच्छत्र, चमर और दुन्दुभिनिनादसे शोभित होकर, अनेक स्तोत्रोंमें श्रम करनेवाले—मधुरध्वनिसे अनेक स्तुति करने वाले—तथा दर्दुर आदि वाद्योंसे सहित दिव्यजनोंके —देवेन्द्र विद्याधर चक्रवर्ती आदिके—साथ (समवसरणभूमिमें) आसीन—(स्थित) हुए थे और उन्हीं के साथ आपने आकाश-विहार किया था ॥

भवार्थ—जब भगवान् समवसरण-भूमिमें विराजमान होते हैं तब उनके तीर्थंकर नामकर्मके उदयके फलस्वरूप अष्ट प्रातिहार्यरूप विभूति प्रकट होती है वे उससे अत्यन्त शोभायमान होते हैं । समवसरणमें बैठे हुए देव विद्याधर आदि भव्यजीव तरह-तरहके बाजे बजाते हुए मनोहर शब्दोंसे उनकी स्तुति करते हैं । तथा जब भगवान्का आकाश-मार्गसे विहार होता है तब भी प्रातिहार्यरूप विभूति और अनेक उत्तम जन उनके साथ रहते हैं । इन सब बातोंसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान् ऋषभदेवका अलौकिक प्रभाव प्रकट किया है ॥५,६॥

(मुरजबन्धः)

यतः श्रितोपि कान्ताभिर्दृष्टा[1] गुरुतया स्ववान् ।
वीतचेतोविकाराभिः स्रष्टा चारुधियां भवान् ॥७॥

यतः श्रितः इति । यतः यस्मात् श्रितोपि आश्रितोपि सेवितोपि कान्ताभिः स्त्रीभिः वानव्यन्तररादिरमणीभिः । तथापि दृष्टा प्रेक्षिता गुरुतया गुरुत्वेन गुरोर्भावः गुरुता तया । स्ववान् आत्मवान् ज्ञानवानित्यर्थः । किं विशिष्टाभिः स्त्रीभिः वीतचेतोविकाराभिः वीतः विनष्टः चेतसः चित्तस्य विकारः कामाभिलाषः यासां ताः वीतचेतोविकाराः ताभिः वीतचेतोविकाराभिः । स्रष्टा विधाता । चार्व्यश्च ताः धियश्च चारुधियः अतस्तासां चारुधियां शोभनबुद्धीनां । भवान् भट्टारकः । किमुक्तं भवति--समवसृतिस्थस्त्रीजनसेवितोपि गुरुत्वेन ईक्षितासि यतस्ततः शोभनबुद्धीनां सृष्टा कर्त्ता भवानेव एतदुक्तं भवति ॥ ७ ॥

अर्थ--हे प्रभो ! यद्यपि आप समवसरणमें अनेक निर्विकार—कामेच्छासे रहित—सुन्दर देवियोंके द्वारा सेवित होते हैं—बहुत देवियां आपकी उपासना करती हैं—तथापि आत्मवान्–जितेन्द्रिय होनेके कारण आप महान्—पूज्य ही माने जाते हैं; अतः निर्मल बुद्धिके उत्पन्न करनेवाले विधाता आप ही हो।

[1] 'दृष्टा' यहां पर कर्तृवाच्य में 'तृच्' प्रत्यय हुआ है और 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इस कोश-वाक्यसे गुरु शब्दका पिता अर्थ भी स्पष्ट है। यदि श्लोक में 'ताः' इस कर्म पदका ऊपरसे सम्बन्ध कर लिया जावे तो श्लोकका एक अर्थ यह भी हो सकता है—'हे प्रभो ! आप अनेक सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा सेवित होनेपर भी उन्हें पितृभावसे देखते हैं अर्थात् जिस प्रकार पुत्रोंके प्रति पिताकी दृष्टि विकार—रहित होती है उसी तरह उनके प्रति भी आपकी दृष्टि विकार-रहित होती है; क्योंकि आप स्ववान् हैं – जितेन्द्रिय अथवा ज्ञानवान् हैं। और इसलिये उत्तम बुद्धिके उत्पादक आप ही माने जा सकते हैं।'

भावार्थ—यद्यपि लोकमें स्त्रियोंका सम्पर्क प्रायः मानवकी प्रतिष्ठाको कम करनेवाला माना गया है तथापि उसमें आपकी प्रतिष्ठामें कुछ भी कमी नहीं आती। क्योंकि जो स्त्रियां आपकी उपासना करती हैं वे स्वयं उस समय विकार-रहित होती हैं और आप आत्मवशी-ज्ञानवान् होनेके कारण विकार-रहित हैं ही। ऐसी अवस्थामें यदि स्त्रियां मनोहर स्तोत्रोंसे आपकी 'भक्ति' करती हैं तो वह कुछ भी असमंजस प्रतीत नहीं होता ॥ ७ ॥

(मुरजबन्धः)

विश्वमेको रुचामाऽऽको व्यापो येनार्य्य ! वर्त्तते ।
शश्वल्लोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

विश्वमेक इति। विश्वं समस्तं क्रियाविशेषणमेतत्। एकः अद्वितीयः। रुचां दीप्तानां आकः प्रापकः। कर्मणि तयं। व्यापः व्यापकः। येन यस्मात्। हेतौ भा। हे आर्य भट्टारक! वर्त्तते शश्वत् सर्वदा। लोकः द्रव्याधारः शश्वल्लोकः। अपि च अन्यच्च। अलोकोपि अलोकाकाशमपि। द्वीपः समुद्रे जलविरहितः प्रदेशः। ज्ञानं केवलज्ञानम्। अर्णवः समुद्रः। ज्ञानमेवार्णवः ज्ञानार्णवः तस्य ज्ञानार्णवस्य। ते तव। अथवा लोकस्यैव विशेषणम्। रुग्भिः ज्ञानैः आकः परिच्छेद्यः व्यापः मेयः। येन कारणेन लोकश्चालोकश्च आको व्यापश्च ज्ञानार्णवस्य ते तव तेन कारणेन द्वीपो वर्त्तते इति। किमुक्तं भवति—सर्वपदार्थेभ्यः केवलज्ञानस्यैव माहात्म्यं दत्तं भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आर्य ! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञानका ही ज्ञेय है—आपका केवलज्ञान लोकवर्ति समस्त पदार्थों और अलोकाकाश को जानता है—अतः वह आपके ज्ञानरूप समुद्रका एक द्वीप है।

भवार्थ—जिस प्रकार विस्तृत समुद्रके भीतर द्वीप होता है

उसी प्रकार आपके ज्ञानके भीतर लोक-अलोक हैं। द्वीपकी अपेक्षा समुद्रका विस्तार जैसे बहुत बड़ा होता है वैसे ही लोक-अलोककी अपेक्षा आपके ज्ञानका विस्तार बहुत अधिक है। पदार्थ अनन्त अवश्य हैं, परन्तु वे आपके अनन्त-ज्ञानकी अपेक्षा अल्प हैं। अनन्तके भी अनन्त भेद होते हैं ॥८॥

(मुरजबन्धः)

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने यत्त्वय्येवाऽश्नुते परः।
क्षतं भूयो मदाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वरः ॥९॥

श्रितः श्रेय इति। श्रितः आश्रितः। श्रेयोपि पुण्यमपि। उदासीने मध्यस्थे। अत्रापि शब्दः सम्बन्धनीयः। यत् यस्मात्। त्वयि युष्मदः ईबन्तस्य प्रयोगः। भट्टारके एव नान्यत्रेत्यर्थः। अश्नुते प्राप्नोति। परः जीवः। क्षतं विवरं छिद्रं दुःखम्। भूयः पुनरपि। मदस्य अहानं यस्मिन् स मदाहानः तस्मिन् मदाहाने। मदः रागविशेषः। अहानं अपरित्यागः। तत् तस्मात्। त्वमेव भवानेव। अर्चितः पूजितः। ईश्वरः प्रधानः स्वामी। एतदुक्तं भवति—भट्टारके उदासीनेपि आश्रितः जीवः अश्नुते श्रेयः सरागे त्वद्व्यतिरिक्तेऽन्यत्र राजादिके जने पुनराश्रितः क्षतं दुःखमेव प्राप्नोति। तस्माद् भट्टारक एव अर्चितेश्वरः[1] नान्यः ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो! यद्यपि आप उदासीन हैं—रागद्वेषसे रहित हैं—तथापि आपकी सेवा करनेवाले—विशुद्ध चित्तसे आपका ध्यान करनेवाले—पुरुष कल्याणको ही प्राप्त होते हैं और अहंकारसे पूर्ण अथवा रागद्वेषसे पूर्ण अन्य कुदेवादिककी सेवा करनेवाले पुरुष अकल्याणको प्राप्त होते हैं। अतः आप ही पूज्य ईश्वर हैं।

भावार्थ—जो निर्मल भावोंसे आपकी स्तुति करता है उसे शुभ कर्मोंका आस्रव होनेके कारण अनेक मंगल प्राप्त होते हैं और जो

1 अर्चितश्चासावीश्वरश्च अर्चितेश्वरः।

कलुषित भावोंसे आपकी निन्दा कर अन्य देव या राजा महाराजाकी सेवा करता है उसे अशुभास्रव होनेसे अनेक अमंगल एवं दुःख प्राप्त होते हैं जब कि आप स्तुति और निन्दा करनेवाले दोनोंपर ही एकसमान दृष्टि रखते हैं–एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा नहीं मानते।[१]

(गतप्रत्यागतार्द्धः[२])

भासते विभुताऽस्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः।
याः श्रिताः स्तुत ! गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया[३] ॥१०॥

भासते इति। अस्य श्लोकस्यार्द्धं पंक्त्याकारेण विलिख्य क्रमेण

१ सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम्॥६९॥
—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र।

'उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥७॥
—विषापहारस्तोत्र।

२ श्लोकके अर्ध भागको पंक्त्याकारसे लिखकर क्रमपूर्वक पढ़ना चाहिये। इस अलंकारमें विशेषता यह है कि क्रम से पढ़नेमें जो अक्षर आते हैं वे ही अक्षर विपरीत क्रम—दूसरी तरफसे पढ़ने में भी आते हैं। इसी प्रकार श्लोकके उत्तरार्ध भागको भी लिख कर पढ़ना चाहिये। यहां यह गतप्रत्यागत विधि अर्धश्लोकमें है इसलिये इसे गतप्रत्यागतार्धअलंकार कहते हैं। जहां सम्पूर्ण श्लोक में गतप्रत्यागत विधि होती है वहां गतप्रत्यागत अथवा अनुलोम-प्रतिलोम अलंकार कहलाता है। कहीं कहीं गत-प्रत्यागतविधि श्लोकके एक एक पादमें भी होती है।

३ 'नाऽनुस्वार विसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ'। अर्थात् अनुस्वार और विसर्गकी हीनाधिकतासे चित्रालङ्कार भग्न नहीं होता।

पठनीयम्। क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीतपाठेऽपि तान्येवाक्षराणि यतस्ततो गतप्रत्यागतार्द्धः। एवं द्वितीयार्द्धमपि योज्यम्। एवं सर्वत्र गतप्रत्यागतार्द्धश्लोकाः द्रष्टव्याः।

भासते शोभते। विभोर्भावः विभुता स्वामित्वम्। तया। अस्ताः क्षिप्ताः ऊनाः न्यूनाः यकाभिः ता विभुतास्तोनाः। ना पुरुषः। स्तोता स्तुतेः कर्त्ता। भुवि लोके। ते तव। सभाः समवसृतीः, शसन्ताः द्रष्टव्याः। याः यद्‌ः टाबन्तस्य प्रयोगः। श्रिताः आश्रिताः। हे स्तुत पूजित। गीत्या गेयेन। नु वितर्के। नुत्या स्तवेन गीताश्च ताः स्तुताश्च गीतस्तुताः। श्रिया लक्ष्म्या। श्रिता आश्रिताः याः सभाः गीत्या गीताः नुत्या स्तुताः संजाताः ना स्तोता पुरुषः भासते ॥१०॥

अर्थ—हे स्तुत! आपकी स्तुति करनेवाला पुरुष पृथ्वी पर उन समवसरण-सभाओंको पाकर अत्यन्त शोभित होता है जो सभाएं अष्ट महाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे शोभित हैं, संगीतमय स्तोत्रोंसे जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषोंके नमस्कारसे जो पूज्य हैं और जिन्होंने अपने वैभवसे अन्य सभाओंको तिरस्कृत कर दिया है।

भावार्थ—आपके स्तवन करनेसे मनुष्य तीर्थङ्कर होता है, जिससे वह भी समवशरण सभाको पाकर आपके ही समान शोभित होता है। यह बात किसी अन्य आराध्यकी आराधनासे नहीं हो सकती; क्योंकि तीर्थङ्कर प्रकृतिका आस्रव केवली या श्रुतकेवलीके सम्पर्कमें रहनेसे ही होता है ॥१०॥

(श्लोकयमक)

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते।
चिराय भवते पीड्यमहोरुगुरवेऽशुचे ॥११॥
स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते।
चिराय भवतेपीड्य महोरुगुरवे शुचे ॥१२॥

(युग्मं)

स्वयं शमेति—द्वौ श्लोकावेतौ पृथगर्थौ द्रष्टव्यौ।

स्वयं स्वतः। शमयितुं विनाशयितुम्। नाशं विनाशम् कर्म। विदित्वा ज्ञात्वा उपलभ्य। सन्नतः सम्यग् नतः प्रणतः। तु अत्यर्थम्। ते तुभ्यम्। चिराय नित्याय अक्षयपदनिमित्तं वा। भवते प्रभवते। भू सत्तायामित्यस्य धोः णवन्तस्य अवन्तस्य प्रयोगः। पीड्यं सविघातम्, न पीड्यं अपीड्यम्, महः तेजः, अपीड्यं च तन्महश्च तदपीड्यमहः, अपीड्यमहसः रुक् अपीड्यमहोरुक्, तया उरुः महान् अपीड्यमहोरुगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरुगुरवे अथवा अपीड्यमहाँश्च रुगुरुश्चासौ अपीड्यमहोरुगुरुः तस्मै अपीड्यमहोरुगुरवे। शुक् शोकः, न शुक् अशुक् तस्मै अशुचे। अशोकार्थं भवते तेन सम्बन्धः तदर्थे अविर्यं द्रष्टव्या। अन्यत् सुगमम्। उत्तरश्लोके स्थितं क्रियापदमपेक्षते ॥११॥

स्वयमिति—अयः पुण्यम् शोभनः अयः स्वयः तं स्वयम्। शं सुखम्। अयितुं गन्तुम्। ना पुरुषः जीवः। अशं दुःखम्। विद् ज्ञानवान् अथवा विचारवान्। इत्वा गत्वा। सन् विद्यमानः। अतः अस्मात् कारणात्। स्तुते स्तुतिविषये। चिराय चिरेण अनन्तकालेन। अथवा अचिरेण तत्क्षणात्। क्षि संज्ञकोयम्। भवते प्राप्नुते। भू प्राप्ताविन्यस्य धोः आदषाद्[1] इति अणिजन्तस्यापि प्रयोगो भवति। अपि सम्भावने। हे ईड्य पूज्य। महती उर्वी गौः वाणी यस्यासौ महोरुगुः, महोरुगुरेव रविः महोरुगुरविः, तस्य सम्बोधनं हे महोरुगुरवे। शुचे शुद्धे सर्वकर्मनिर्मुक्ते। एतदुक्तं भवति—तुभ्यं अशोकार्थं भवते अप्रतिहतकेवलज्ञानदीप्तये आत्मना सन्नतः ना पुरुषः प्रेक्षापूर्वकारी विनाशं विनाशयितुं मोक्षार्थं सुखं गन्तुं हे ईड्य महोरुगुरवे दुःखं गत्वा पुण्यमपि प्राप्नुते ॥१२॥

अर्थ—हे स्तुत्य ! हे दिव्यध्वनिरूप किरणोंसे शोभायमान सूर्य ! जो ज्ञानवान पुरुष, विनाशको नष्ट करनेके लिये—अजर-

---

[1] आत्मनेपदस्य।

अमर पद पानेके उद्देश्यसे, अविनाशी—शोकरहित एवं निर्बाध-प्रताप और केवलज्ञानसे सम्पन्न आपकेलिये सम्यक्प्रकार शुद्ध भावोंसे नमस्कार करता है तथा सब कर्मोंको नष्ट करने वाले आपके स्तवनमें तल्लीन होता है वह दुःखोंको पाकर भी अन्तमें पुण्यस्वरूप-अविनाशी परमसुखको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करता है वह समस्त कष्टोंको बिता कर अन्तमें जन्म-मरणके कष्टको भी दूर कर अविनाशी मोक्ष-पदको प्राप्त होता है॥११ १२॥

(प्रथमपादोद्भूतपश्चार्द्धकाक्षरविरचितश्लोकः[1])

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः ।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोततः ॥१३॥

ततोतीति—प्रथमपादे यान्यक्षराणि तानि सर्वाण्यक्षराणि पश्चिमार्द्धे यत्र तत्र व्यवस्थितानि, नान्यानि सन्ति।

तता विस्तीर्णा ऊतिः रक्षा तता चासावूतिश्च ततोतिः तस्या भावः ततोतिता। तु विशेषे। अति पूजायां वर्त्तमानो कि गि ति संज्ञां न भवति, अतएव केवलस्यापि प्रयोगः। किमुक्तं भवति—विशिष्ट-पूजितप्रतिपालनत्वम्। ते तव युष्मदः प्रयोगः। इतः इदमः प्रयोग एभ्य इत्यर्थः। केभ्यः तोतृतोतीतितोतृतः। अस्य विवरणं—तोतृता ज्ञातृता, कुतः तु गतौ सौत्रिकोयं धुः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थे वर्त्तन्ते इति। ऊतिः रक्षा वृद्धिर्वा अव रक्षणे इत्यस्य धोः क्त्यन्तस्य प्रयोगः। तोतृताया ऊतिः तोतृतोतिः इति अवगमः प्राप्तिर्वा इण गतावित्यस्य धोः क्त्यन्तस्य प्रयोगः। तोतृतोतेः

१ इस श्लोकके प्रथम पादमें जो अक्षर हैं वे ही सब अक्षर आगेके पादोंमें जहाँ-तहाँ व्यवस्थित हैं। अन्य अक्षर नहीं हैं। श्लोककी रचना मात्र 'तकार' व्यञ्जन अक्षरमें हुई है अतः यहां एक व्यञ्जन-चित्र अलंकार है।

इति: तोतृतोतीति: ज्ञातृत्ववृद्धिप्रापणमित्यर्थ: । अथवा ज्ञातृत्वरक्षण-विज्ञानमिति वा । तुदन्तीति तोतृणि तुद् प्रेरणे इत्यस्य धो: प्रयोग: तोतृतीतीनि: तोतृणी । तोतृतोतीति तोतृणि ज्ञानावरणादीनीत्यर्थ: । तेभ्य: तोतृतोतीतितोतृत: । तत: तस्मात् । ताति: परिग्रह: परायत्तत्वम् । दृश्यते चायं लोके प्रयोग: युष्मत्तात्या वयं वसाम: युष्मत्परिग्रहेणेत्यर्थ: । न ताति: अताति: अतात्या तता विस्तीर्णा: अतातितता: अपरिग्रहेण महान्तो जाता इत्यर्थ: । अनातिततेपु उता बद्धा ऊति: रक्षा यस्य स आतातिततोतीति: तस्य सम्बोधनं हे अतातिततोतोते । ततता विशालता प्रभुता त्रिलोकेशत्वमित्यर्थ: । ते तव । ततं विशालं विस्तीर्णं उतं बन्ध: ज्ञानावरणादीनां संश्लेष: । ततं च तदुतं च ततोतम् । तत् तस्यतीति ततोतता: तस्य सम्बोधनं हे ततोतत: ॥१३॥

अर्थ—हे भगवान ! आपने, विज्ञानवृद्धिकी प्राप्तिको रोकने वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे अपनी विशेष रक्षा की है— ज्ञानावरणादि कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेष गुणोंको प्राप्त किया है । तथा आप परिग्रहरहित—स्वतन्त्र हैं । इसलिये पूज्य और सुरक्षित हैं । एवं आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंके विस्तृत—अनादिकालिक सम्बन्धको नष्ट कर दिया है अत: आपकी विशालता-प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ १३ ॥

(एकाक्षरविरचितैकैकपाद: श्लोक:[१])

येयायायाययेयाय नानानूनाननानन ।
ममाममाममामामिताततीतिततीतित: ॥१४॥

येयेति—येय: प्राप्य: अय: पुण्यम् यै: ते येयाया: । आय: प्राप्त: अय: सुखं येषां ते आयाया:, येयायाश्च आयायाश्च येयायायाया: तै: येय: प्राप्य: अय: मार्गो यस्यासौ येयायायाययेयाय: तस्य सम्बोधनं हे

१ इस श्लोकका प्रत्येक पाद एक-एक व्यञ्जन अक्षरसे बना है ।

येयायायायायेयाय। नाना अनेकं, अनूनं सम्पूर्णं, नाना च अनूनं च नानानूने। आननं मुखकमलम्, अननं केवलज्ञानम्, आननं च अननं च आननानने। नानानूने आनननानने यस्यासौ नानानूनानननानन: तस्य सम्बोधनं हे नानानूनानननानन। मम अस्मद: प्रयोग:। मम: मोह: दृश्यते च लोके प्रयोग: काम: क्रोध: ममत्वमिति। न विद्यते ममो यस्यासौ अमम: तस्य सम्बोधनं हे अमम। आमो व्याधिस्तम्। आम क्रियापदम्। आम रोगे इत्यस्य धो: रूपम्, आमं आम। न मिता अमिता अपरिमिता। आतति: महत्वं। अमिता आततिर्यासां ता: अमितातनय:, ईतय: व्याधय:, अमितातनयश्च ता: ईतयश्च अमितातनतीतय:, तासां तति: संहति: अमितातनतीतितति:। इति: गमनं प्रसर:। अमितातनतीतिततेः इति: अमितातनतीतिततीति:। तां तस्यतीति अमितातनतीतिततीतिता:। तस्य सम्बोधनं हे अमितातनतीतिततीतित:। किमुक्तं भवति—हे एवंगुणविशिष्ट मम आमं रोगं आम विनाशय ॥१४॥

अर्थ—हे भगवन्! आपका यह मोक्षमार्ग उन्हीं जीवोंको प्राप्त हो सकता है जो कि पुण्यबन्धके सन्मुख हैं अथवा जिन्होंने पहले पुण्यबन्ध कर लिया है। समवसरणमें आपके चार मुख दिखाई देते हैं, आपका केवलज्ञान भी पूर्ण है—संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जानता है। यद्यपि आप ममताभावसे-मोहपरिणामोंसे-रहित हैं तथापि संसार सम्बन्धी अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियोंको नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो! मेरे भी जन्म-मरणरूप रोगको नष्ट कर दीजिये ॥ १४ ॥

(पादाभ्यासमस्तपादान्तयमक:, युग्मकयमक:)

गायतो महिमायते गा यतो महिमाय ते।
पद्मया स हि तायते पद्मयासहितायते ॥१५॥

गायतो मेति—यादृग्भूत: प्रथम: पाद: तादृग्भूतो द्वितीयोपि।

यादग्भूतस्तृतीयः तादृशश्चतुर्थोऽपि अयते इति सर्वपादेषु समानं यतः अतो भवति पादाभ्यासमसर्वपादान्तयमकः ।

गायतः स्तुतिं कुर्वतः । कै गै रै शब्दे इत्यस्य धोः शत्रन्तस्य प्रयोगः । महिमा माहात्म्यम् । अयते गच्छति । गाः वाणीः, गो इत्यस्य शसन्तस्य रूपम् । यतः यस्मात् । महिमानं अयते महिम्नायते स्म वा महिमायः तस्य सम्बोधनं हे महिमाय । ते तव । पद पादः । दृश्यते च पच्छब्दस्य लोके प्रयोगः गाः पदा न स्पृष्टव्या । मया अस्मदः भान्तस्य प्रयोगः । सः तदः वान्तस्य रूपम् । हि निपातोऽयं स्फुटार्थे । तायते विस्तार्यते । तस्य पादस्य गुणाः विस्तार्यन्ते तेषां विस्तारे सति पादस्यापि विस्तारः कृतः । गुणगुणिनोरभेदः । पद्मया लक्ष्म्या सहिता आयतिः शरीरायामः यस्यासौ पद्मयासहितायतिः गमकत्वात्समासविधिः । यथा देव-दत्तस्य गुरुकुलम् । यथायं गुरुशब्दोऽन्यमपेक्षते एवं सहित शब्दोऽपि । अथवा पद्मेषु यातीति पद्मयाः । सह हितेन वर्त्तत इति सहिता । आयतिः आज्ञा । सहिता आयतिर्यस्यासौ सहितायतिः पद्मयाश्चासौ सहितायतिश्च पद्मयासहितायतिः । तस्य सम्बोधनं हे पद्मयासहितायते । किमुक्तं भवति—हे महिमाय पद्मया सहितायते ते पदं गायतः महिमा[१] अयते गाः यतः ततो मया स हि पद तायते विस्तार्यते स्तूयते इत्यर्थः ॥१५॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप स्वयं माहात्म्यको प्राप्त हैं, आपका शरीर भी लक्ष्मीसे—अनुपम सौन्दर्यसे—सहित है । अथवा आप कमलोंपर विहार करते हैं—विहार करते समय देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं—और आपकी आज्ञा भव्यजीवोंका हित करने वाली है । हे प्रभो ! जो आपका गुणगान करता है उसकी वाणीको महत्त्व प्राप्त होता है—

१ महिमा गाः अयते इत्यनेन महिम्नः स्तुतिविषयत्वमुक्तम् ।

उसकी वाणी अनेक अतिशयोंसे पूर्ण होती है—अतः मैं भी आपके चरणकमलोंको—उनके गुणोंको—विस्तृत करता हूँ—उनकी स्तुति करता हूँ।

भावार्थ—जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी स्तुति करनेसे पुरुषके वचनोंमें वह शक्ति निहित होती है जिससे वह सर्वोपकारी उपदेश देनेमें—दिव्यध्वनि खिरानेमें—समर्थ होता है अतः आचार्य समन्तभद्र भी भगवान वृषभनाथके चरणोंकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ॥ १५ ॥

अजित-जिन-स्तुतिः

(श्लोकयमकः)

[1]सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः।
सतां तमो हरन् जयन् महो दयापराजितः ॥१६॥

सदिति—सत् शोभनम्। अक्षर अनश्वर। न विद्यते जरा वृद्धत्वं यस्यासावजरः तस्य सम्बोधनं हे अजर। अजित द्वितीयतीर्थकरस्य नाम। प्रभो स्वामिन्। दयस्व-दय दाने इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम्। वर्द्धनः नन्दनः त्वं यतः। सतां भव्यलोकानाम्। तमः अज्ञानम्। हरन् नाशयन्। जयन् जयं कुर्वन् इत्यर्थः। महः तेजः केवलज्ञानम्, दयस्व इत्यनेन सम्बन्धः। दयापर दयाप्रधान। न जितः अजितः। किमुक्तं भवति—अन्ये सर्वे जिताः त्वमजितः अतः हे अजित भट्टारक महः सद्ज्ञानं दयस्व ॥१६॥

अर्थ—उत्तम अविनाशी और जरा रहित हे अजितनाथ प्रभो! आप क्षमा आदि गुणोंसे वर्धमान हैं, साधुपुरुषोंके अज्ञानअन्धकारको नष्ट करनेवाले हैं, विजयी हैं और काम-क्रोध आदि शत्रुओंसे अजित हैं—काम-क्रोध आदि दोषोंसे

---

[1] प्रमाणिका छन्दः 'प्रमाणिका जरौ लगौ' इति लक्षणात्।

रहित हैं। हे दयालु देव ! वह दिव्य तेज—केवलज्ञान—मुझे भी दीजिये (जिसके प्रतापसे आप परमपूज्य उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हो) ॥ १६ ॥

सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः ।
स तान्तमोह रंजयन महोदयापराजितः ॥१७॥

सदक्षेति—सह दक्षैं विचक्षणैः सह वर्त्तन्त इति सदक्षाः । सदक्षाश्च ते राजानश्च सदक्षराजानः तैः राजितः शोभितः सदक्षराजराजितः तस्य सम्बोधनं हे सदक्षराजराजित । प्रभायाः विज्ञानस्य उदयो वृद्धिर्यस्यासौ प्रभोदयस्तस्य सम्बोधनं हे प्रभोदय । स्वेषां स्वानां वा वर्द्धनः नन्दनः स्ववर्द्धनस्त्वम् । अथवा स्ववर्द्धनः अस्माकम् । स एवं विशिष्टस्त्वं । तान्तः विनष्टः मोहः मोहनीयकर्म यस्यासौ तान्तमोहः तस्य सम्बोधनं भो तान्तमोह । रंजयन् अनुरागं कुर्वन् इत्यर्थः । महान् पृथुः पूज्यः उदयः उद्भूतिर्येषां ते महोदयाः देवेन्द्रचक्रेश्वरादयः । अपरान् अन्तःशत्रून् मोहादीन् आसमन्तात् जयंतीति कर्त्तरि क्विप् अपराजितः । महोदयाश्च ते अपराजितश्च ते महोदयापराजितः । अथवा द्वन्द्वः समासः तान् महोदयापराजितः कर्मणि इपो बहुत्वम् । समुदायार्थः—हे अजित भट्टारक सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः त्वं सः तान्तमोह रञ्जयन् महोदयापराजितः महः दयस्व ॥१७॥

अर्थ—समर्थ अथवा चतुर राजाओंसे शोभित ! केवलज्ञानसे सहित ! और मोह-विकारसे शून्य ! हे अजित देव ! आप आत्मीय जनोंको बढ़ाने वाले हैं—उन्नत पदपर पहुँचाने वाले हैं—और महान् ऐश्वर्यसे सहित इन्द्र चक्रवर्ती आदि तथा काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतने वाले बड़े-बड़े मुनियोंको अनुरञ्जित-आनन्दित करते हैं। हे प्रभो ! वह सम्यग्ज्ञान मुझे भी दीजिये जिसके प्रसादसे आप इस उत्कृष्ट दशाको

प्राप्त हुए हो¹ ॥१७॥

शम्भव-जिन-स्तुतिः

(अर्द्ध भ्रमः)

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवि यस्य च ॥ १८ ॥
पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥१९॥

(युग्मं)

नचेन इति—नच प्रतिषेधवचनम् । इनः स्वामी । नच प्रतिषेधे । रागः आदिर्येषां ते रागादयः तेषां चेष्टा कायव्यापारः रागादिचेष्टा । वा समुच्चये । यस्य देवस्य तव । पापं गच्छतीति पापगा । चेष्टा च पापगा यस्य नचास्ति । नो नच । वामैः रुद्रैः मिथ्यादृष्टिभिः । श्रीयते आश्रीयते । अपारा अगाधा अर्थनिचिता । यस्य ते । नयस्य आगमस्य त्वदभिप्रायस्य श्रीः लक्ष्मीः नयश्रीः । भुवि लोके । हे शंभव एवंविशिष्टस्त्वं मा पायाः । उत्तरश्लोकेन सम्बन्धः ॥ १८ ॥

पूतस्वेति—पूतः पवित्रः सु सुष्टु अनवमः² गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम् । तन्वा शरीरेण आयातं आगतम् । भयात् संसारभीतेः । रुचा तेजसा । स्वया आत्मीयया आत्मीयतेजसेत्यर्थः । वामाः प्रधानाः प्रधा-

---

१ 'महोदयस्त्व' इति पूर्वश्लोकगतकर्मक्रियाभ्यां सम्बन्धः । अथवा 'स्ववर्द्ध नः' इत्यस्य 'सु+अव+ऋद्ध+नः' इति च्छेदं विधाय 'हे ऋद्धसम्पन्न ! नोऽस्मान्; स्ववसुष्टु रक्ष'—त्यर्थकरणे न पूर्वेण श्लोकेन महान्वय-योजनप्रयासः करणीयः ।

२ न अवमः अनवमः अनधम इत्यर्थः । "निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यवमाधमाः……समाः" इत्यमरः ।

नेपि वामशब्दः प्रवर्त्तते । वामानामीशः स्वामी वामेशः तस्य सम्बोधनं हे वामेश । पायाः रक्ष । पा रक्षणे इत्यस्य धोः आशीर्लिङ्-तस्य प्रयोगः । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । नतं प्रणतम् । एकैः प्रधानैः अर्च्यः पूज्यः एकार्च्यः, अथवा एकश्चासावर्च्यश्च एकार्च्यः तस्य सम्बोधनं हे एकार्च्य । शम्भवः तृतीयतीर्थकरभट्टारकः तस्य सम्बोधनं हे शम्भव ! किमुक्तं भवति—यस्य न इनः रागादिचेष्टा च पापगा यस्य नास्ति यस्य नाश्रीयते वामैः नयश्रीः हे शम्भव स त्वं स्वतेजसा मा आगतं शोभनाचारं नतं पायाः एतदुक्तं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनके पाप बन्ध करानेवाली रागादिचेष्टाओंका सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नयलक्ष्मीका भूमितलपर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं हो सकते ऐसे, इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषोंके नायक ! अद्वितीय पूज्य ! हे शंभवनाथ जिनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं--रक्षक हैं, अतः अपने दिव्य तेजद्वारा मेरी भी रक्षा कीजिये । मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है । मैं संसारके दुःखोंसे डर कर शरीरके साथ आपके समीप आया हूं ।

भावार्थ 'मैं किसीका भलाया बुराकरूं' इस तरह राग-द्वेषसे पूर्ण इच्छा और तदनुकूल क्रियाएं यद्यपि वीतराग के के नहीं होतीं तथापि वीतरागदेवकी भक्तिसे भक्त जीवोंका स्वतः भला हो जाता है, क्योंकि वीतरागकी भक्तिसे शुभ कर्मोंमें अनुभाग (रस) अधिक पड़ता है, फलतः पाप कर्मोंका रस घट जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है और अन्तराय कर्म बाधक न रहकर इष्टकी सिद्धि सहज ही हो जाती है। इसी नयदृष्टिको लेकर अलंकारकी भाषामें आचार्य समन्त-भद्र भगवान् शंभवनाथसे प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं संसारसे डर कर आपकी शरणमें आया हूं, मेरा आचार पवित्र है और मैं आपको नमस्कार कर रहा हूं अतः आप मेरी रक्षा कीजिये,

क्योंकि आप इस कार्यमें—समर्थ हैं—आपकी शरणमें पहुंचनेसे रक्षाकार्य स्वतः ही विना आपकी इच्छाके वन जाता है ॥ १८,१९ ॥

(अर्द्धभ्रमः)

धाम स्वयममेयात्मा मतयादभ्रया श्रिया ।
त्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥२०॥

धामेति—धाम अवस्थानं तेजो वा । शोभनः अयः पुण्यं सुखं वा यस्मिन् तत् स्वयम् । अथवा स्वयं आत्मना । अमेयः अपरिमेयः आत्मा ज्ञानं स्वभावो वा यस्यासौ अमेयात्मा । मतया अभिमतया । अदभ्रया[1] । महत्या । श्रिया लक्ष्म्या । स्वया[2] आत्मीयया । हे जिन परमेश्वर । विधेयाः कुरु । वि पूर्वः धाञ करोत्यर्थे वर्त्तते । मे मम । यत् अनन्तं न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य तदनन्तं धाम । विभ्रमः मोहः न विद्यते विभ्रमो यस्यासावविभ्रमः । तस्य सम्बोधनं हे अविभ्रम । एत-दुक्तं भवति—हे जिन अविभ्रम स्वकीयया श्रिया धाम अवस्थानं यद-नन्तं मे मम तत् विधेयाः ॥ २० ॥

अर्थ—हे मोहरहित शंभवनाथ जिनेन्द्र ! आप अपनी अभिमत विशाल लक्ष्मीसे हो अमेयात्मा—अनन्तज्ञानी हुए हो अतः आप मुझे भी उत्तम पुण्य या सुखसे सहित वह धाम—स्थान, तेज अथवा ज्ञान प्रदान कीजिये जिसका कभी अन्त न हो ॥ २० ॥

अभिनन्दन जिन स्तुतिः

अर्द्धभ्रमः ।

अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।
महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥२१॥

१ अदभ्रं बहुलं बहुः इत्यमरः । २ स्वाज्ञातावात्मनि

अतम इति—तमः अज्ञानं न विद्यते तमो यस्यासावतमाः तस्य सम्बोधन हे अतमः। स्वतः आत्मनः नताः प्रणताः स्वस्मिन् नताः वा स्वनताः। आरक्षणशीलः आरक्षी। स्वनतानामारक्षी स्वनतारक्षी। तमो मोहं च हन्ति जहातीति तमोहा त्वं वन्दनेश्वरः वन्दनायाः ईश्वरः स्वामी वंदनेश्वरः। महती चासौ श्रीश्च महाश्रीः महाश्रीः विद्यते यस्यासौ महाश्रीमान्। न जायत इत्यजः। नेता नायकः। स्वव रक्ष सुपूर्वस्य अव रक्षणे इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम्। मां अस्मदः इवन्तस्य रूपम्। अभिनन्दनः चतुर्थजिनेश्वरः तस्य सम्बोधनं हे अभिनन्दन। किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन अतमः स्वनतारक्षी मन् त्वं तमोहा मन् इत्येवमादिः मन् मां अभिरक्ष॥ २१॥

अर्थ—हे अज्ञानान्धकारसे रहित! हे अभिनन्दननाथ जिनेन्द्र! जो आपको नमस्कार करते हैं उनकी आप रक्षा करते हैं। आप मोहसे रहित हैं, वन्दनाके ईश्वर हैं—सबके वन्द्य हैं, अनन्त चतुष्टय तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे सहित हैं, अज हैं—भावी भवग्रहणरूप जन्मसे रहित हैं—और नेता हैं-मोक्षमार्गके उपदेशक हैं; अतः मेरी भी रक्षा कीजिये--मुझे भी संसारके दुःखोंसे बचाइये॥ २१॥

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरचक्रश्लोकः[1]।)

नन्द्यनन्तद्‍र्ध्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टोऽभिनन्द्य न॥२२॥

१ चक्राकार गोल रचना बनाकर उसके बीचमें स्वल्प गोलाकार गर्भ—चक्रमध्यकी रचना करे। फिर चक्रमध्यसे चारों दिशाओंमें चार आरोंकी रचना करे। इस अलंकारमें गर्भ और चार महादिशाओंके अन्तिम अक्षर एक समान होते हैं। चित्र परिशिष्टमें देखिये। यह अलंकार इस पुस्तकके २३वें और २४वें श्लोकमें भी हैं। २ नन्दी। अनन्तर्द्धि + अन-

नन्द्यनन्तेति—चक्रं भूमौ ह्यालिख्य गर्भे चक्रमध्ये चतसृषु महादिक्षु च एकाक्षरैः समानाक्षरैर्भवितव्यम्। चक्रमध्ये नकारं दत्वा, तस्योर्ध्वं बहिर्भागे अरमध्ये 'न्द्य' न्यस्य तस्याप्यूर्ध्वं महादिशि नकारं संस्थाप्य, नेमिमध्ये दक्षिणदिशि 'न्तर्ध्य' अक्षरे न्यसनीये। पुनर्महादिशि नकारं संस्थाप्य अरमध्ये 'न्ते' न्यस्य, गर्भे पुनरपि नकारो न्यसनीयः। पुनरपि गर्भे नकारः। अरमध्ये 'न्त' न्यस्य, महादिशि नकारः। एवं सर्वत्र तस्य संदृष्टिः। सप्ताक्षराणि समानानि गर्भाक्षरेणैकेन लभ्यन्ते। अरमध्ये चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते। महादिक्ष्वपि चत्वार्यक्षराणि अन्यानि समानानि लभ्यन्ते एवमेतानि पञ्चदशाक्षराणि चक्रस्थितसप्तदशाक्षराणि गृहीत्वा श्लोकः सम्पद्यते। एवं सर्वे चक्रश्लोका द्रष्टव्याः।

अस्यार्थः कथ्यते—नन्दो वृद्धिः सोऽस्यास्तीति नन्दी अथवा नन्दनशीलो नन्दी अशुप्यपि शीले णिन् भवति। अनन्ता ऋद्धिः विभूतिर्यस्यासौ अनन्तर्द्धिः। न विद्यते अन्तो विनाशो यस्यासावनन्तः नन्दी चासौ अनन्तर्द्धिश्च नन्द्यनन्तर्द्धिः सचासावनन्तश्च नन्द्यनन्त-र्ध्यनन्तः तस्य सम्बोधनं हे नन्द्यनन्तर्ध्यनन्त। इन स्वामिन्। नन्ता स्तोता। इनः स्वामी, सम्पद्यत इत्यध्याहार्यः। ते तव। हे अभिनन्दन। नन्दना ऋद्धिर्यस्यासौ नन्दनर्द्धिः। न नम्रः अनम्रः। न प्रतिषेधे। किमुक्तं भवति—प्रवृद्धश्चार्यः पुरुषः स तव अनम्रो अप्रणतः न किन्तु नम्र एव। नम्र प्रणतः यः स नष्टो विनष्टो न। अभिनन्द्य त्वा अभिनन्द्य इत्यध्या-हार्यः। किमुक्तं भवति— हे अभिनन्दन ते नन्ता इनः सम्पद्यते कुतः नन्दनर्द्धिः यतः अप्रणतो नास्ति ते अभिनन्द्य च यो नम्र स विनष्टो न यतः॥ २२॥

न्तः, एषां कर्मधारये सति सम्बुद्धौ रूपम्, 'इन' इति सम्बुद्धौ पृथक् पदम्। 'नन्ता+इनः' इति पदच्छेदः। 'त्वा' इति पदमध्या-हार्यम्।

अर्थ—समृद्धि-सम्पन्न, अनन्त ऋद्धियोंसे सहित और अन्तरहित हे अभिनन्दन स्वामिन् ! आपको नमस्कार करने वाला पुरुष (आपके ही समान सबका) ईश्वर हो जाता है। जो बड़ी बड़ी ऋद्धियोंके धारी हैं वे आपके विषयमें अनम्र नहीं हैं—आपको अवश्य ही नमस्कार करते हैं और जो आपकी स्तुति कर नम्र हुए हैं वे कभी नष्ट नहीं होते—अवश्य ही अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो सच्चे हृदयसे भगवानको नमस्कार करते हैं वे अनेक बड़ी ऋद्धियोंको प्राप्त होते हैं और अन्तमें कर्मोंका क्षय कर अविनाशी मोक्ष-पद पा लेते हैं। इसलिए आचार्यने ठीक ही कहा है कि आपको नमस्कार करनेवाले पुरुष आपके ही समान संसारके ईश्वर हो जाते हैं ॥२२॥*

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनश्रीर्जिन त्वा न[1] नत्वा[1] नर्द्धया स्वनन्दि न[2] ।
नन्दिनस्ते विनन्ता न[2] नन्तानऽन्तोभिनन्दन ॥२३॥

नन्दनेति नन्दना चासौ श्रीश्च नन्दनश्रीः पुरुषो वा। हे जिन। त्वा युष्मदः इवन्तस्य प्रयोगः। न न नत्वा किन्तु नत्वैव। ऋद्ध्या विभूत्या सह स्वनन्दि, क्रियाविशेषणम्। स्वनन्दि यथा भवति तथा स्वहर्ष यथा भवति। नन्दिनः समृद्धिमतः। ते तव। विनन्ता च विशेषनन्ता। न न नन्ता स्तोता। अनन्तः अविनश्वरः सिद्धः सम्पद्यते यतः। हे अभिनन्दन। किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन जिन नन्दिनस्ते नन्दनश्रीः

*नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥
—भक्तामरस्तोत्रे मानतुंगः ।

१-१, २-२ द्वौ नञ् शब्दौ प्रकृतार्थस्य दाढ्यं सूचयतः ।

ऋद्ध्या सह त्वा न न नत्वा विनन्ता च तव न न यस्मात् नन्ता सर्वोपि अनन्तसिद्धः सम्पद्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—हे अभिनन्दन जिन! आप अनन्त-चतुष्टयरूप समृद्धिसे सुशोभित हैं। जो समृद्धिशाली पुरुष प्रसन्नचित्त होकर अपनी विभूतिके साथ आपकी पूजा करता है—आपको नमस्कार करता है—वह अवश्य ही अनन्त हो जाता है—जन्ममरणसे रहित सिद्ध हो जाता है ॥२३॥

(गर्भमहादिशंकाक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वाभिनन्दन ।
नन्दनस्वर नत्वेन[1] नत्वेनः[2] स्यन्न नन्दनः ॥२४॥

नन्दनं त्वेति—नन्दनं वृद्धिकरं । त्वा युष्मदः इबन्तस्य रूपम् । आप्य प्राप्य । नष्टो विनष्टो न । नष्टो विनष्टोऽनत्वा अस्तुत्वा । हे अभिनन्दन । नन्दनः प्रीतिकरः स्वरो वचनं यस्यासौ नन्दनस्वरः तस्य सम्बोधनं हे नन्दनस्वर । त्वा इत्यध्याहार्यः । त्वा नत्वा स्तुत्वा । इन स्वामिन । ननु एनः पापम् । स्यन् । विनाशयन् न नन्दनः किन्तु नन्दन एव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः । किमुक्तं भवति—हे अभिनन्दन त्वा नन्दनं आप्य न नष्टः यो नष्टः सः अनत्वैव, त्वा नत्वा एनः स्यन् न नु न नन्दनः किन्तु नन्दन एव ॥२४॥

अर्थ—हे मधुरभाषी अभिनन्दन जिन! आप केवलज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हैं। आपको पाकर संसारमें कोई भी जीव नष्ट नहीं हुआ—आपके चरणकमलोंका आश्रय पानेवाला हरएक प्राणी अवश्य ही अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त

१ 'नत्वा + इन' इति पदच्छेदः । २ 'ननु + एनः—पापमिति पदच्छेदः ।

हो जाता है। संसारमें नष्ट वही हुआ है—जन्म-मरणके दुख वही उठा रहा है--जिसने (हृदय से) आपको नमस्कार नहीं किया। हे स्वामिन ! जो आपको नमस्कार कर दुष्कर्मोंको—पापोंको—नष्ट करता है वह अवश्य ही ज्ञानादि गुणोंमें वर्ध-मान या सम्पन्न हो जाता है।

भावार्थ—जिनका हृदय आपकी भक्तिसे उज्ज्वल होता है वे ही जीव दुष्कर्मोंका क्षय कर उच्च अवस्थाको प्राप्त होते हैं-आत्मासे परमात्मा होजाते हैं—और वे ही जीव अन्तमें सब कर्मोंका विनाश कर मुक्त अवस्थाको प्राप्त होते हैं—संसार-के दुःखोंसे पूर्णतया छूट जाते हैं ॥ २४ ॥

सुमति-जिन-स्तुतिः

(समुद्गकयमकः।)

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमते ! हितः ।
देहि नोऽजयिनः[1] श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥२५॥

देहीति—यादृग्भूतं पूर्वार्द्धं पश्चार्द्धमपि तादृग्भूतमेव समुद्गक इव समुद्गकः।

देहिनः प्राणिनः। जयिनः जयनशीलस्य। कर्तरि ता। श्रेयः श्रय-णीयः। सदा सर्वकालम्। अतः अस्माद्धेतोः हे सुमते। हितः त्वम्। सुमतिरिति पंचमतीर्थङ्करस्य नाम। देहि डुदाञ् दाने इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम्। नः अस्माकम्। न जायते इत्यजः। इन स्वामिन। श्रेयः सुखम्। स एवं विशिष्टस्त्वम्। हे दातः दानशील। मतं आगमः

---

1 नः+अजः+इनः इति पदच्छेदः ! अज शब्दः स्वौजसमौडिति सुप्रत्ययः। ससजुषोरुरिति रुत्वम्। 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' इति रोर्यादेशः। लोपः शाकल्यस्येति विकल्पेन यकारलोपः। ततो नात्र विकल्पत्वाल्लोपः।

ईहितं चेष्टितम् । मतं च ईहितं च मतेहिते शोभने मते हिते यस्यासौ सुमतेहितः । किमुक्तं भवति—यो देहिनः श्रेयः यो वा दानशीलः यो वा सुमतेहितः हे सुमत स त्वं अतः देहि नः श्रेयः ॥२५॥

अर्थ—हे सुमति जिनेन्द्र ! आप कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले प्राणियोंके उपासनीय हैं—जो प्राणी अपने कर्मरूप शत्रुओंको जीतना चाहते हैं वे अवश्य ही आपकी उपासना करते हैं (क्योंकि आपकी उपासनाके बिना कर्मरूप शत्रु नहीं जीते जा सकते) आप सदा उनका हित करनेवाले हैं, आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएं उत्तम हैं । आप अज हैं—जन्म-मरणकी व्यथासे रहित है, सबके स्वामी हैं । हे दानशील भगवन ! मुझे भी मोक्षरूप कल्याण प्रदान कीजिये ॥२५॥

(चक्रश्लोकः[1])

वरगौरतनुं देव वंदे नु त्वाक्षयार्जव[2] ।
वर्जयार्तिं त्वमार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥२६॥

वरगौरेति—वरा श्रेष्ठा गौरी उत्तप्तकाञ्चननिभा तनुः शरीरं यस्यासौ वरगौरतनुः अतस्तं वरगौरतनुं । हे देव भट्टारक । वन्दे स्तौमि । नु अत्यर्थम् । त्वा भट्टारकम् । क्षयः विनाशः आर्जवं ऋजुत्वम्, अपेक्षापूर्वकारित्वमित्यर्थः । क्षयश्च आर्जवं च क्षयार्जवे न विद्येते क्षयार्जवे यस्यासावक्षयार्जवः तस्य सम्बोधनं हे अक्षयार्जव । वर्जय निराकुरु ।

---

१ इसकी रचना २२ वें श्लोकके समान है, उसमें गर्भ और चार महादिशाओंके अन्तिम अक्षर एक समान थे परन्तु इसमें महादिशाओंके अक्षर भिन्न हैं । यह अलंकार इस ग्रन्थके ५३ और ५४ नम्बरके श्लोकोंमें भी है । चित्र परिशिष्टमें देखिये ।

२ 'त्वा+अक्षयार्जव' इति पदच्छेदः । अक्षयोऽविनश्वरः आर्जवोऽमायित्व लक्षणो धर्मोयस्य स तत्सम्बोधनम् ।

अर्त्तिं पीडाम्। त्वं आर्य योगिन्। नः इत्यध्याहार्यः तेन सम्बन्धः। नः अस्मान्। अव रक्ष। हे वर्य प्रधान। अमानोरुगौरव। अमानं अपरिमाणं उरु महत् गौरवं गुरुत्वं यस्य सः अमानोरुगौरवः तस्य सम्बोधनं हे अमानोरुगौरव। एतदुक्तं भवति—हे देव त्वा वन्दे। अस्माकं अर्त्ति- वर्जय। अस्मान् रक्ष च ॥२६॥

अर्थ—हे विनाश और अविवेकसे रहित ! (अथवा हे अविनाशी आर्जव धर्मसे सहित !) हे आर्य ! हे सर्वोत्तम ! हे अपरिमित-विशाल गौरवसे युक्त ! सुमतिदेव ! जिनका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान अत्यन्त गौर वर्ण है ऐसे आपके लिये मैं नमस्कार करता हूं। आप मेरे जन्म मरणके दुःख नष्ट कीजिये तथा संसारके दुःखोंसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ २६ ॥

पद्मप्रभ-जिन-स्तुतिः

(अर्द्धभ्रमः)

अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोऽर्दय ।
पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रद ॥२७॥

अपापेति—पापं पुराकृतं दुष्कृतम्, आपत् अन्यकृतशारीरमानसदुःखम्, पापं च आपच्च पापापदौ न विद्येते पापापदौ ययोस्तौ अपापापदौ। अमेया अपरिमेया श्री लक्ष्मीः ययोस्तौ अमेयश्रियौ। अपापापदौ च तावमेयश्रियौ च तौ अपापापदमेयश्रियौ। पादावेव पद्मौ पादपद्मौ। अपापापदमेयश्रियौ तौ पादपद्मौ यस्यासौ अपापापदमेयश्रीपादपद्मः तस्य सम्बोधनं हे अपापापदमेयश्रीपादपद्म। प्रभो स्वामिन्।

अर्दय हिंसय विनाशय । पापं दुष्कृतम् । अप्रतिमा अनुपमा आभा दीप्ति-र्यस्यासावप्रतिमाभः अनुपमतेजाः । मे मम । पद्मप्रभ षष्ठ तीर्थंकर । मतिं सद्विज्ञानं प्रददातीति मतिप्रदः तस्य सम्बोधनं हे मतिप्रद । एत-दुक्तं भवति—हे पद्मप्रभ मम पापं अर्दय । अन्यानि सर्वाणि पदानि तस्यैव विशेषणानि ॥२७॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चरणकमल पूर्वसंचित पापकर्मसे रहित हैं, आपत्तियोंसे शून्य हैं, और अपरिमित लक्ष्मी के—शोभाके-आधार हैं । तथा आप स्वयं भी अनुपम आभासे—तेजसे सहित हैं । हे सम्यग्ज्ञानके देनेवाले पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! मेरे भी पापकर्म नष्ट कीजिये ।

भावार्थ--आपके निष्पाप—पवित्र चरणकमलोंके आश्रयसे मनुष्यको वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह अपने समस्त पापकर्म तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त हुई आपत्तियोंको नष्टकर अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित होजाता है और तब उसकी आत्मा अनन्त तेजसे प्रभासित हो उठती है ॥२७॥

———

(गतप्रत्यागतपादयमकश्लोकः)

वंदे चारुरुचां देव भो वियाततया विभो ।
त्वामजेय यजे मत्वा तमितांतं ततामित ॥२८॥

वन्दे इति—प्रथमपादस्याक्षरचतुष्टयं क्रमेणालिख्य पठित्वा पुन-रपि तेषां व्युत्क्रमेण पाठः कर्त्तव्यः । क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीत-पाठेऽपि तान्येव । एवं सर्वे पादा द्रष्टव्याः ।

वन्दे नौमि । चार्वी शोभना रुग् दीप्तिर्भवितव्या येषां ते चारुरुचः अतस्तेषां चारुरुचाम् । देव भो भट्टारक ! वियाततया वियातस्य भावो

वियातता तया वियाततया[1] धृष्टत्वेन। विभो प्रभो। त्वाम्। अजेयः न जीयत इत्यजेयः तस्य सम्बोधनं अजेय। यजे पूजये। मत्वा विचार्य। तमितः नष्टः अन्तः क्षयो यस्यासौ तमितान्तः तं तमितान्तम्। ततं प्रतिपादितं अमितः अमेयं वस्तु येनासौ ततामितः तस्य सम्बोधनं हे ततामित। एतदुक्तं भवति—भो चारुरुचां देव त्वां वन्दे यजे च वियाततया। अन्यान्यस्यैव विशेषणानि ॥ २८ ॥

अर्थ—हे विभो ! आप उत्तम कान्ति, भक्ति अथवा ज्ञानसे सम्पन्न जीवोंके देव हो—उनमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओंसे अजेय हो, अनन्त पदार्थोंका निरूपण करने-वाले हो अथवा ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे विस्तृत और सीमारहित हो। हे पद्मप्रभदेव ! मैं आपको अन्तरहित-अविनश्वर मान-कर बड़ी धृष्टतासे नमस्कार करता हूँ और बड़ी धृष्टतासे ही आपकी पूजा कर रहा हूं।

भावार्थ—यहां आचार्यने यह भाव व्यक्त किया है कि जब इन्द्र तथा गणधर भी आपके योग्य आपकी पूजा वा नमस्का-रादि नहीं कर सकते तब आपके प्रति मेरा पूजन वा नमस्का-रादि करना धृष्टताके सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥२८॥

सुपार्श्व-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।
भवानेकोऽपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः ॥२९॥

स्तुवान इति—स्तुवाने वन्द्यमाने। कोपने क्रोधने कोपं करोतीति कोपनः[2] अतस्तस्मिन्। च समुच्चये। एवाऽवधारणे। समानः सदृशः।

---

1 'धृष्टेधिष्णुवियातश्च' इत्यमरः। २ ल्युट् च।

यत् यस्मात् । न प्रतिषेधे । पुनातीति पावकः पवित्रः । नाग्निः । भवान् भट्टारकः । न प्रतिषेधे । एकोपि[1] प्रधानोपि असहायोपि । नेतेव नायक इव । त्वं युष्मदः प्रयोगः । आश्रेयः आश्रयणीयः । सुपार्श्वकः सप्तमतीर्थकरस्वामी । किमुक्तं भवति—स्तुतिं करोति यः कोपं करोति यः तयोः द्वयोर्न न समानः किन्तु समान एव । ततः त्वं सुपार्श्वकः एकोपि सन् पावक इति कृत्वा नेतेव सर्वेषपि आश्रेयः ॥ २९ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! सुपार्श्वनाथ ! आप, स्तुति करनेवाले और निन्दा करनेवाले—दोनोंके विषयमें समान हैं—रागद्वेष से रहित हैं। सबको पवित्र करनेवाले हैं—सबको हितका उपदेश देकर कर्मबन्धनसे छुटानेवाले हैं। अतः आप एक असहाय (दूसरे पक्षमें प्रधान) होनेपर भी नेताकी तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय हैं।

भावार्थ—जिस तरह एक ही नेता अनेक आदमियोंको मार्ग प्रदर्शनकर इष्ट स्थानपर पहुँचा देता है उसी तरह आप भी अनेक जीवोंको मोक्षमार्ग बतलाकर इष्ट स्थानपर पहुंचा देते हैं और स्वयं भी पहुंचे हैं अतः आप सबकी श्रद्धा और भक्तिके भाजन हैं ॥२९॥

चन्द्रप्रभ-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

चन्द्रप्रभो दयोजेयो विचित्रेऽभात कुमण्डले ।
रुन्द्रशोभाक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥३०॥

चन्द्रप्रभ इति—चन्द्रप्रभः अष्टमतीर्थंकरः । दयते इति दयः रक्षकः । न जीयते इत्यजेयः जिताशिचक इत्यर्थः । विचित्रे नानाप्रकारे । अभात् शोभितः भा दीप्तौ अस्य धातोर्लङन्तस्य रूपम् । कुमण्डले पृथ्वी-

1 एक मुख्यान्यकेवलाः ।

मण्डले मण्डलमिति वृत्तप्रदेशस्य संज्ञा । रुन्द्रा[2] अमन्दा महती शोभा दीप्ति र्यस्यासौ रुन्द्रशोभः। न क्षीयत इत्यक्षयः । अमेयः अपरिमेयः । रुचिरे दीप्ते । भानूनां प्रभाणां मण्डलं संघातः भानुमण्डलं तस्मिन् भानुमंडले सति । चन्द्रेण सह श्लेषः । कानिचित्साधर्म्येण विशेषणानि कानिचिद्वैधर्म्येण । एतदुक्तं भवति—चन्द्रप्रभस्त्वं कुमण्डले विचित्रे अभात् रुचिरे भानुमंडले सति । अन्यानि चन्द्रप्रभभट्टारकस्यैव विशेषणानि । दयः अजेयः रुन्द्रशोभः अक्षयः अमेयः चन्द्रप्रभचन्द्रयोः समानत्वं, किन्तु एतावान् विशेषः । स जेयो राहुणा अयमजेयः । स क्षयः अयमक्षयः । स मेयः अयममेयः । स पृथ्वीमण्डले अयं पुनस्त्रैलोक्ये अलोके च । अयं व्यतिरेकः ॥ ३० ॥

अर्थ—हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप चन्द्रमा-जैसी प्रभासे सम्पन्न हैं परन्तु चन्द्रमा और आपमें निम्नलिखित व्यतिरेक-विशेषताएं हैं । आप सबके रक्षक हैं—सबको सुख देनेवाले हैं परन्तु चन्द्रमा चकवा-चकवी आदिको दुःख देनेवाला है । आप अजेय हैं—किसीके द्वारा नहीं जीते जा सकते—परन्तु चन्द्रमा राहुके द्वारा जीत लिया जाता है । आप तीनों लोकों तथा अलोक-में भी प्रकाशमान रहते हैं—सब जगहके पदार्थोंको जानते हैं परन्तु चन्द्रमा सिर्फ पृथ्वी-मण्डलमें ही प्रकाशमान रहता है । आपकी शोभा रुन्द्र है—अतिविशाल है—परन्तु चन्द्रमाकी शोभा सीमित है । आप क्षय-रहित हैं, किन्तु चन्द्रमा क्षय सहित है—कृष्णपक्षमें क्रम क्रम से क्षीण होता जाता है । आप अमेय हैं—अपरिमित हैं अर्थात् आपके गुणोंका कोई परिमाण नहीं है अथवा आप प्रमाणके विषय नहीं हैं; परन्तु चन्द्रमा मेय है—परिमित है—उसके १६ कलायें हैं तथा प्रमाणका विषय है, आप सूर्यमण्डलके देदीप्यमान रहते हुए भी शोभायमान रहते हैं परन्तु चन्द्रमा सूर्यमण्डलके सामने शोभा-रहित होजाता है ।

१ रुन्द्रो विपुलम् ।

भावार्थ---इस श्लोकमें चन्द्रप्रभ इस श्लिष्ट विशेषणसे पहले तो अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और चन्द्रमामें सादृश्य बतलाया गया है परन्तु बादमें अन्य विशेषणोंकेद्वारा चन्द्रमाकी अपेक्षा अष्टमतीर्थंकरमें-वैशिष्ट्य सिद्ध किया गया है ॥३०॥

(मुरजः)

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः ।
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥३१॥

प्रकाशेति—चन्द्रप्रभः अभादिति सम्बन्धः । किं विशिष्टः प्रकाशयन् तिमिरं प्रपाटयन् । खं आकाशं । उद्भूतः उद्गतः । त्वं । उद्घः महान् अंकः चिह्नं यस्यासौ उद्घांकः, कलानां कलागुणविज्ञानानां लेखानां वा आलयः आधारः कलालयः,उद्घांकश्चासौकलालयश्च उद्घांककलालयः । विकासयन् प्रबोधयन् । समुद्भूतः । कुमुदं पृथ्वीहर्षम् । अन्यत्र कुमुदं पुष्पम् । कमलायाः लक्ष्म्याः प्रिय इष्टः । अन्यत्र कमलानां पद्मानां अप्रियः अनिष्टः कमलाप्रियः । एतदुक्तं भवति—त्वं-चन्द्रप्रभोऽभात् एतत् कुर्वन् एवं गुणविशिष्टः चन्द्रेण समानः । श्लेषालंकारोऽयम् ॥३१॥

अर्थ—हे विभो ! आप चन्द्ररूप हैं, क्योंकि जिस तरह चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है उसी तरह आप भी (केवल ज्ञानके प्राप्त होनेपर) समस्त लोकाकाश और अलोकाशको प्रकाशित करते हैं । चन्द्रमा जिस तरह हरिणके मनोहर चिह्नसे युक्त है उसी तरह आप भी मनोहर चिह्न जो 'अर्धचन्द्र' उससे युक्त हैं । चन्द्रमा जिस तरह सोलह कलाओंका आलय (गृह) है उसी तरह आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओंके आलय-स्थानहैं । चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों-नीलकमलोंको विकसित करता हुआ उदित होता है उसी तरह

आप भी कु-पृथिवी-गत समस्त जीवोंके आनन्दको बढ़ाते हुए उदित हुए हैं—उत्पन्न हुए हैं और चन्द्रमा जिस प्रकार कमला-प्रिय है—(कमल+अप्रिय) कमलोंका शत्रु है—उन्हें निमीलित कर देता है उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय हैं—केवलज्ञानादि लक्ष्मीके प्रिय हैं।

इस श्लोकमें विशेषण सादृश्यसे अष्टम तीर्थंकरको चन्द्रमा बतलाया गया है। यह श्लेषालंकार है।

नोट—श्लोकगत समस्त विशेषणोंसे जैसे अष्टम तीर्थंकर और चन्द्रमामें सादृश्य सिद्ध किया गया है वैसे ही उन दोनोंमें वैसादृश्य—व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। इस पक्ष में श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा—

हे भगवन्! आप चन्द्रमाकी तरह शोभायमान हैं अवश्य, परन्तु आपमें उसकी अपेक्षा नीचे लिखी हुई विशेषतायें हैं—चन्द्रमा सिर्फ आकाश-विवरको प्रकाशित करता हुआ उदित होता है, परन्तु आप अखिल विश्वको प्रकाशित करते हुए (द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा) अनादिकालसे उदित ही हैं। चन्द्रमाका चिह्न कृष्ण है—कलङ्करूप है, जिससे वह कलङ्की कहलाने लगा है परन्तु आपका चिह्न अर्धचन्द्र अत्यन्त मनोहर है अथवा आपके शरीरमें जो १००८ सामुद्रिक चिह्न हैं वे भी अत्यन्त सुन्दर हैं। चन्द्रमा कलालय है—अपनी कलाओंका लय विनाश लिए हुए है परन्तु आप केवलज्ञान आदि कलाओंके आलय—घर हैं। चन्द्रमा कुमुद्—कुत्सित-वैषयिक मुद्-हर्षको अथवा दुर्जन पुरुषोंके हर्षको (पक्षमें कुमुद पुष्पको) वृद्धिगत करता है परन्तु आप उत्कृष्ट आत्मीय आनन्दको अथवा समस्त पृथ्वीगत जीवधारियोंके आनन्दको वृद्धिगत करते हैं—बढ़ाते हैं। चन्द्रमा उदित होकर अस्त होजाता है परन्तु आप हमेशा उदित ही रहते हैं—आप कभी अस्तमित नहीं होते। चन्द्रमा कमलोंको

अप्रिय है—विरोधी है परन्तु आप कमलोंके अप्रिय नहीं हैं (पक्षमें कमला—अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके—प्रिय-पति हैं)। हे भगवन्! इस तरह आप अनोखे चन्द्रमा हैं ॥३१॥

(मुरजः)

धाम त्विषां तिरोधानविकलो विमलोऽक्षयः ।
त्वमदोषाकरोऽस्तोनः सकलो विपुलोदयः ॥३२॥

धामेति—चन्द्रप्रभोऽभात् अत्रापि सम्बन्धनीयः। धाम अवस्थानम्। त्विषां तेजसाम्। तिरोधानेन व्यवधानेन विकलः विरहितः अन्यत्राविकलः तिरोधानविकलः। विमलो निर्मलः, चन्द्रः पुनः समलः। न क्षीयत इत्यक्षयः, अन्यः सक्षयः। त्वं भट्टारकः। अदोषाणां गुणानां आकरः निवासः, अन्यत्र दोषायाः रात्रेः आकरः दोषाकरः। अस्ताः क्षिप्ताः ऊनाः असर्वज्ञतारका: येनासावस्तोनः। सकलः सम्पूर्णः, अन्योऽसम्पूर्णः। विपुलः महान् उदयः उद्गमो यस्यासौ विपुलोदयः। अन्यः पुनः अविपुलोदयः। किमुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः एवंविधगुणविशिष्टः सन् पृथ्वीमण्डले अभात् शोभित इति सम्बन्धः ॥३२॥

अर्थ—हे प्रभो! आप चन्द्रमाके समान शोभायमान हैं अवश्य परन्तु आपमें और उसमें भारी भेद है। आप केवलज्ञानरूप तेजके स्थान हैं-तेजस्वी हैं, परन्तु चन्द्रमा तेजसे रहित है। आप तिरोधानसे रहित हैं—संसारके किसी भौतिक पदार्थसे आपका आवरण नहीं होता, परन्तु चन्द्रमा मेघ आदिसे आवृत हो जाता है—छिपा लिया जाता है। आप विमल हैं—कर्ममल-कलङ्कसे रहित हैं परन्तु चन्द्रमा समल है—कलङ्कसे सहित है। आप अक्षय हैं—विनाश रहित हैं—आपके केवलज्ञानादि गुणोंका कभी नाश नहीं होता, परन्तु चन्द्रमा क्षय-सहित है—उदय होनेके बाद अस्त हो जाता है। आप अदोषाकर हैं—दोषोंकी आकर (खानि) नहीं हैं—आपने क्षुधा-तृषा आदि अठारह दोष

नष्ट कर दिये हैं परन्तु चन्द्रमा ऐसा नहीं है, वह दोषाकर है— अनेक दोषोंकी खान है (संसारी पुरुष जो ठहरा) पक्षमें दोषा—रात्रिको करने वाला है आपने असर्वज्ञरूप ताराओंको अस्तकर दिया है—आपके लोका-लोकावभासी सर्वज्ञत्वके सामने संसार के अन्य अल्पज्ञ—हरिहरादि प्रभाव-रहित हो जाते हैं परन्तु चन्द्रमा अपनेसे हीनद्युति-ताराओंको अस्त नहीं कर सकता। आप सकल हैं—सम्पूर्ण हैं अथवा केवलज्ञान, सद्वक्तृत्व आदि अनेक कलाओंसे सहित हैं—परन्तु चन्द्रमा विकल है— अपूर्ण है—[1]कलाओंसे रहित है। आपका उदय महान् है—आप एक स्थानमें स्थित होते हुए भी अपने ज्ञानगुणसे संसारके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं—जानते हैं—परन्तु चन्द्रमाका उदय सीमित है—वह चल फिर कर सिर्फ थोड़ेसे पदार्थोंको प्रकाशित कर पाता है।

[यह श्लेषमूलक व्यतिरेकालंकाकार है] ॥३२॥

(मुरजः)

यत्तु खेदकरं ध्वान्तं सहस्रगुरपारयन्।
भेत्तुं तदन्तरत्यन्तं सहसे गुरु पारयन् ॥३३॥

यत्तुखेदेति—यत् यद्रोरूपम्। तु अप्यर्थे। खेदकरं दुःखकरं खेदं करोतीति खेदकरम्। ध्वान्तं तमः अज्ञानं मोहः। सहस्रगुरादित्यः अपिशब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः। सहस्रगुरपि अपारयन् अशक्नुवन्। भेत्तुं विदारयितुम्। तत् ध्वान्तम्। अन्तः अभ्यन्तरम्। अत्यन्तं अत्यर्थम्। अथवा अन्तमतिक्रान्तं अत्यन्तम्। सहसे समर्थो भवसि। भेत्तुं अत्रापि सम्बन्धनीयं काकाक्षिवत्। गुरु महत्। पारयन् शक्नुवन्। त्वं चन्द्रप्रभ इति सम्बन्धनीयम्। किमुक्तं भवति—त्वं चन्द्रप्रभः यदन्तर्ध्वान्तं

---

[1] 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः—चन्द्रमाका सोलहवां हिस्सा कला कहलाता है।

खेदकरं भेत्तुं सहस्रगुरपि अपारयन् तत् ध्वान्तं भेत्तुं सहसे समर्थो भवसि पारयन् सन् ॥३३॥

अर्थ हे भगवन्! जिस, अत्यन्त दुःख देने वाले मोहरूप अन्तरङ्ग और सघन अन्धकारको नष्ट करनेके लिये हजार किरणोंको धारण करने वाला सूर्य भी समर्थ नहीं है उस अन्धकारको आप जड़मूलसे नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—सूर्य तिमिरारि—अन्धकारका—शत्रु कहलाता अवश्य है परन्तु वह अपने विषय—क्षेत्रमें स्थित-सिर्फ भौतिक अन्धकारको नष्ट कर पाता है जब कि आप प्राणियोंके अन्तरिक मोह अथवा अज्ञान अन्धकारको भी नष्ट कर देते हैं। अतः आप सूर्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। यहां व्यतिरेकालंकार गम्य है ॥३३॥

(मुरजः)

खलोलूकस्य [1]गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः।
कालोविकलगोघातः[2] समयो[3]ऽप्यस्य भास्वतः ॥३४॥

खलोलूकेति—त्वं चन्द्रप्रभोऽभूः इति सम्बन्धः। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामो भवतीति त्वमिति भास्वतः सम्बन्धात् च भवति। खलश्चासावुलूकश्च खलोलूकः तस्य खलोलूकस्य। गवां रश्मीनां व्रातः संघातः गोव्रातः। तमः अन्धकारः। तापी दहनस्वरूपश्च सम्पद्यत इत्यध्याहार्यः। अति अत्यर्थम्। भास्वतः आदित्यस्य। ते पुनः चन्द्र-

१ 'गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु। स्त्रीगवि भूमिदिग्नेत्रवाग्वाणसलिले स्त्रियः'—इति विश्वलोचनः।

२ अविकलगः, विकलगः आघातः, घातः, इति पदद्वये—पदच्छेदः।

३ 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः'—इत्यमरः।

प्रभस्य भास्वतः प्रकाशयतः गोव्रातः वचनकदम्बकः नापि कस्यचित्तमो न ताप्यति तापि व्यतिरेकः । कालः समयः मुहूर्तादिः । अविकलगः अप्रतिहतः । अन्यत्र विकलगः प्रतिहतः । अघातः प्रतिपक्षरूपैर्घातो नास्ति । अन्यत्र मेघादिभिरस्त्येव । समयोऽपि दर्शनमपि । अस्य भट्टा-कस्य भास्वतः सन् । एवंभूत एव अघातः अविकलगः नान्यत्र । एत-दुक्तं भवति—भास्वतः गोव्रातः एवंभूतः कालः समयश्च नादित्यस्य । अतस्त्वं चन्द्रप्रभः अभूः कुमण्ले इति सम्बन्धः ॥३४॥

अर्थ—हे भगवन् ! सूर्यकी किरणोंका समूह दुष्ट उलूकके लिये अन्धकार रूप परिणत होता है तथा सबको सन्ताप करने वाला होता है परन्तु हमेशा प्रकाशमान रहने वाला आपकी किरणों अथवा वचनोंका समूह न तो किसीको अन्धकाररूप होता है और न किसीको सन्ताप देनेवाला होता है—आपके वचनोंसे सबका अज्ञान अथवा मोहरूप अन्धकार नष्ट हो जाता और सबको आनन्द होता है । सूर्यका काल रात्रिसे व्यवहित है परन्तु आपका काल अव्यवहित है—आप दिन-रात—हर समय—प्रकाशमान रहते हैं । सूर्यके समयका मेघ आदि प्रतिपक्षी पदार्थोंसे घात हो जाता है. मेघ वृक्ष आदि पदार्थ सूर्य तथा उसके प्रकाशको ढक लेते हैं परन्तु आपके समयका सिद्धान्त (दर्शन) का घात संसारके अन्य किन्हीं भी प्रतिवादियोंद्वारा नहीं हो सकता—आपका स्याद्वाद सिद्धान्त अजेय है । सूर्य दिनमें भास्वत्—प्रकाशमान रहता है परन्तु आप सदा प्रकाशमान रहते हैं । अतएव हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप सूर्यसे भी अधिक शोभाय-मान हैं ।

यहां व्यतिरेकालंकार है । 'गो' और 'समय' शब्दका श्लेष उसकी शोभा बढ़ा रहा है ॥३४॥

(मुरजः)

लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।
एकप्रियसहायाय नम एकस्वभाव ते ॥३५॥

लोकत्रयेति—लोकत्रयमेव महामेयं वस्तु लोकत्रयमहामेयम्, कमलानां पद्मानां आकरः कमलाकरः नलिनीवनम् । लोकत्रयमहामेयमेव कमलाकरः लोकत्रयमहामेयकमलाकरः तस्य भास्वान् रविः लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वान् तस्मै लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते । एकः प्रधानः । प्रियः इष्टः । सहायः बन्धुः । प्रियश्चासौ सहायश्च प्रियसहायः एकश्चासौ प्रियसहायश्च एकप्रियसहायः तस्मै एकप्रियसहायाय । नमः अव्युत्पन्नो भि संज्ञकः पूजावचनः अस्य योगे अप् । एकस्वभाव एकस्वरूप । ते तुभ्यम् । किमुक्तं भवति—चन्द्रप्रभ इत्यनुवर्तते हे चन्द्रप्रभ एकस्वभाव तुभ्यं नमः एवं विशिष्टाय ॥३५॥

अर्थ—सदा एक रूप रहनेवाले हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप ऊर्ध्व-मध्य-पाताल लोकरूप विशाल—अपरिमित—कमलवनको विकसित करनेके लिये सूर्य हैं तथा सबके प्रधान और प्रियबन्धु हैं अतः आपको नमस्कार हो ।

भवार्थ-यद्यपि संसारके अन्य महापुरुष साधारण प्राणियोंकी अपेक्षा उच्च पदको प्राप्त हुए हैं परन्तु उनका वह पद सत्कर्मोदयजनित होनेसे कालान्तरमें अवश्य ही नष्ट हो जाता है अतः उन्हें एक स्वभाव नहीं कहा जा सकता । परन्तु जिनेन्द्रदेवने जिस उत्कृष्ट पदको प्राप्त किया है उसका कर्मक्षयजनित होनेसे कालान्तरमें कभी नाश नहीं होता अतः आचार्य समन्तभद्रने उन्हें एकस्वभाव कहा है । ॥३५॥

(अर्द्धभ्रमगूढद्वितीयपादः)

चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ ।
श्रीवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तव शशिप्रभ ॥३६॥

चारुश्रीति—यानि द्वितीयपादाक्षराणि तानि सर्वाणि अन्येषु पदेषु सन्तीति ।

श्रीश्च शुभं च श्रीशुभे चारुणी च ते श्रीशुभे च चारुश्रीशुभे ते दत्तः इति चारुश्रीशुभदौ । नौमि स्तौमि क्रियापदमेतत् । रुचा दीप्त्या । वृद्धौ महान्तौ । प्रपावनौ पवित्रीभूतौ । श्रियं वृणुत इति श्रीवृतौ श्रीवृतैश्च तौ धौतौ च प्रक्षालितौ श्रीवृद्धौतौ । शिवौ शोभनौ । पादौ चरणौ । शुद्धौ शुची । तव ते । हे शशिप्रभ । एतदुक्तं भवति—शशिप्रभ तव पादौ नौमि किं विशिष्टौ तौ एवं गुणविशिष्टौ । अन्यानि सर्वाणि अनयोरेव विशेषणानि ॥३६॥

अर्थ—हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आपके चरण कमल सुन्दर समवसरणादि लक्ष्मी और निःश्रेयस आदि कल्याणको देने-वाले हैं, कान्तिसे बढ़े हुए हैं—कान्तिमान् हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मीको वरने वाले है, प्रक्षालित हैं अथवा इन्द्र, चक्रवर्ती योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीवान पुरुषोंके द्वारा प्रक्षालित हैं, कल्याण रूप हैं और अत्यन्त शुद्ध हैं अतः उन्हें नमस्कार करता हूं । ॥३६॥

पुष्पदन्त-जिन-स्तुति

(निरौष्ठ्यश्लोकयमकः[1])

शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहिनः ।
नयेनाशंसितं श्रेयः सद्यः सन्नज राजितः ॥३७॥

---

1 इस श्लोकमें ओष्ठस्थानीय उवर्ण, पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं । साथमें श्लोकावृत्ति होनेसे श्लोकयमक भी है ।

शं स नायक निष्ठायाश्चेष्टायायत्र देहि नः ।
न येनांशं सितं श्रेयः सद्यः सन्नजराजितः ॥३८॥
(युग्मम्)

शंसेति—औष्ठ्यमक्षरमत्र श्लोके नास्ति द्विरावर्त्तते च इति हेतोः । शंसनाय प्रशंसनार्थं[1] । कनिष्ठयाः अणुभूतायाः । चेष्टायाः कायवाङ्-मनः-क्रियायाः । यत्र यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे । देहिनः प्राणिनः सम्बन्धेन । नयेन अभिप्रायेण । आशंसितं सम्भावितं । श्रेयः पुण्यम्, । सत् शोभनम् । यः यश्च । द्वितीयार्थे व्याख्यायमाने च शब्दोऽतिरेकः सोऽत्र सम्बन्धनीयः । हे अज सर्वज्ञ । राजितः शोभितः । सन् भवन् । उत्तरार्धे क्रिया तिष्ठति तया सम्बन्धः कर्तव्यः ॥३७॥

शंसनेति—शं सुखम् । स पूर्वोक्तः । नायकः नेता प्रभुर्वा तस्य सम्बोधनं नायक । निष्ठायाः मोक्षावाप्तेः । च अयं चशब्दः पूर्वार्धे दृष्टव्यः । इष्टायाः प्रियायाः । अत्रास्मिन् । देहि दीयताम् । नः अस्मभ्यम् । न । येन । अशं दुःखम् । सितं बद्धम् । श्रेयः श्रेयणीयः सन् । सद्यः तत्क्षणादेव । सन्ना विनष्टा जरा वृद्धित्वं यस्यासौ सन्नजरः तस्य सम्बोधनं हे सन्नजर । अन्यैरजितः अजितः सन् । वान्तैःपदैः[1] सर्वत्र सम्बधनीयः । समुदायार्थः—यस्मिन् सर्वज्ञविशेषे प्राणिभिः स्तुतिमात्राद्वा पुष्पखण्डाद्वा पुण्यं भावितं सन् प्रशंसार्थं भवति यश्च राजितः । पुष्पदन्त इति उत्तर श्लोके तिष्ठति सोत्र सम्बन्धनीयः । स त्वं श्रेयः सन् हे पुष्पदन्त अज अस्मभ्यं शं देहि, येन सुखेन दुःखं सितं बद्धं न भवति तत्सुखं देहीत्युक्तं भवति ॥३८॥

अर्थ—जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मीसे शोभायमान हैं, जो सबके द्वारा सेव्य-सेवनीय हैं और जो (विश्वकी किसी अन्य शक्तिसे) अपराजित हैं—जीते नहीं जा सके हैं—ऐसे अत्यन्तश्रेष्ठ, जन्मरहित और सर्वप्रिय मोक्षलक्ष्मीके प्रसिद्ध

---

१ प्रथमान्तैः ।

नायक हे पुष्पदन्त जिनेन्द्र ! आपके विषयमें की गई मन वचन कायकी छोटी-छोटी चेष्टाओंसे—आपके चिन्तवन स्तवन तथा नमस्कारसे-प्राणियोंको जिस श्रेष्ठ पुण्यका बन्ध होता है वह मात्र अनुमानसे संभावित होनेपर भी स्तुतिके योग्य ठहरता है। हे प्रभो ! आप मुझे भी वह मोक्षसुख दीजिये जिससे फिर कभी वह सुख दुःख-बद्ध न हो—दुखको प्राप्त न हो।

भावार्थ–आपके स्तवनादिसे प्राणियोंको जो पुण्य-बन्ध होता है वह यद्यपि छद्मस्थ जीवोंके स्वानुभवगम्य नहीं होता—उन्हें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि उस पुण्यबन्धसे जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है उससे उसका अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि इस अनुमान-प्रणालीसे पूर्ण पुण्यबन्धका बोध नहीं हो पाता तथापि जितने पुण्यबन्धका बोध होता है विचार करनेपर वह भी प्रशंसनीय ठहरता है। क्योंकि उससे भी अनेक ऐहिक तथा पारलौकिक फलोंकी प्राप्ति हो जाती है। हे भगवन् ! आपके विषयमें की गई मन-वचन-कायकी साधारण प्रवृत्तिसे जब जीवका इतना उपकार होता है तब मन-वचन-कायकी पूर्ण शक्ति लगाकर आपकी उपासना करनेसे जीवका कितना बड़ा उपकार न होगा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

(मुरजः)

शोकक्षयकृदव्याधे पुष्पदन्त स्ववत्पते ।
लोकत्रयमिदं बोधे गोपदं तव वर्त्तते ॥३९॥

शोकेति—शोकक्षयकृत् शोकस्य क्षयः शोकक्षयः तं करोतीति शोकक्षयकृत्। अव्याधे न विद्यते व्याधिर्यस्यासावव्याधिः तस्य सम्बोधनं हे अव्याधे। पुष्पदन्त नवमतीर्थकर। स्ववत्पते आत्मवतां पते। लोकानां त्रयम्। इदं प्रत्यक्षवचनम्। बोधे केवलज्ञाने। गोपदं गोष्पदम् अत्र सुपो लुक् भवति। तव ते वर्त्तते प्रवर्तते। ज्ञानस्य माहात्म्यं प्रद-

शितम् । गुणान्यावर्णनं हि स्तवः । किमुक्तं भवति हे पुष्पदन्त परमेश्वर तव बोधे लोकत्रयं गोष्पदं वर्त्तते यतः ततो भवानेव परमात्मा ॥३६॥

अर्थ—हे शोकका क्षय करनेवाले ! हे व्याधियोंसे रहित ! हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ! पुष्पदन्त भगवान् ! आपके विश्व-प्रकाशी केवलज्ञानमें ये तीनों लोक गोष्पदके—कीचड़में चिह्नित हुए गायके खुरके—समान जान पड़ते हैं।

भावर्थ-हे प्रभो ! आपका ज्ञान विशाल समुद्रके समान है और यह लोकत्रय गोष्पदके समान अत्यन्त तुच्छ है। प्रमेय-पदार्थोंकी इयत्तासे आपके प्रमाण-ज्ञानकी इयत्ता नहीं आँकी जा सकती। आपका ज्ञान स्वभावसे अनन्त है, न कि अनंत पदार्थोंको जाननेसे ॥३६॥

(मुरवः)

लोकस्य धीर ते वाढं रुचयेपि जुषे मतम् ।
नो कस्मै धीमते लीढं रोचतेपि द्विषेमृतम् ॥४०॥

लोकेति - लोकस्य भव्यजीवानां । हे धीर गम्भीर । ते तव । वाढं अत्यर्थम् । रुचये दीप्तये । अपि भिन्नक्रमे । जुषे च प्रीतये । तादर्थ्ये अवियम् । मतं प्रवचनम् । नो प्रतिषेधवचनम् । कस्मैचित् जीवाय। धीमते च बुद्धिमते । लीढं आस्वादितम् । रोचते रुचिं करोति । अपि समुच्चयेऽर्थे । द्विषे विद्विषे । अमृतं षोडशभागः[1] । एतदुक्तं भवति—हे पुष्पदन्त धीर ते मतं लीढं लोकस्य रुचये जुषेपि वाढं रोचते । ननु धीमते रोचताम् । यावता हि यो द्वेष्टि तस्य कथं रोचते द्विषेपि अमृतं लीढं धीमते च । न कस्मै रोचते किन्तु रोचत एव ॥ ४० ॥

अर्थ—हे गम्भीरहृदय पुष्पदन्त भगवान् ! आपका यह पवित्र मत-आगम आस्वादन किये जानेपर—श्रवण पठन

[1] पाकः ।

चिन्तन आदि किये जानेपर—प्रत्येक को आपके भक्त और विद्वेषी दोनों प्राणियोंको—ज्ञानवृद्धि एवं प्रीतिका देने वाला है; क्योंकि अमृत आस्वादन किये जाने पर किस बुद्धिमान्को अच्छा नहीं लगता? भले ही वह उससे द्वेष रखता हो।

भावार्थ—अमृतसे चाहे कोई स्नेह रखे चाहे द्वेष, आस्वादन करनेपर वह जिस तरह सबको सुख पहुँचाता है उसी तरह कोई आपसे स्नेह करता हो चाहे विद्वेष, आपका आगम सबको सुख पहुँचाता है—सुखका रास्ता बतलाता है। उसका कारण आपकी धीरता-गम्भीरता और स्तुति-निन्दामें समानता है जिसे कि 'धीर' इस विशेषणसे आचार्य श्रीसमन्तभद्रने श्लोकमें अङ्कित किया है॥ ४० ॥

———

शीतल-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि प्रसादकः।
भूतनेत्र पतेस्यैव[1] शीतलोपि च पावकः॥४१॥

एतदिति—एतत् प्रत्यक्षवचनम्। चित्रं आश्चर्यम्। क्षितेः पृथिव्याः। एव अप्यर्थं। घातकोपि हिंसकोपि। प्रसादकः प्रपालकः। भूतानां जीवानां नेत्रं चक्षुः भूतनेत्रं तस्य सम्बोधनं हे भूतनेत्र। पते स्वामिन्। असि भवसि। एव अत्यर्थं। शीतलः भव्याह्लादकः दशमतीर्थविधाता। अपि च तथापि। पावकः पवित्रः। विरुद्धमेतत् कथं शीतलः शीतलक्रियः पावकः अग्निः। यदि शीतलः कथं पावकः। अथ पावकः कथं शीतलः। यथा यो घातकः कथं प्रसादकः। अथ प्रसादकः कथं घातकः। विरुद्धमेतत्। एतदुक्तं भवति—हे भूतनेत्रपते क्षितेरेव आश्चर्यमेतत्। यो घातकोपि प्रसादकः। त्वं पुनः शीतलोपि च पावकः भवस्येव॥४१॥

---

[1] 'पते+असि+एव' इति पदच्छेदः।

अर्थ – हे प्राणिलोचन ! प्रभो ! यह आश्चर्यकी बात है कि आप पृथिवीके—पृथिवीगत प्राणियोंके (पक्षमें—ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंके)— घातक हो कर भी पालक हैं—रक्षक हैं—और शीतल—शीतगुण विशिष्ट—ठण्डे (पक्षमें—शीतलनाथ दशम तीर्थंकर) होकर भी पावक-अग्नि (पक्षमें—पवित्र करने वाले) हैं।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है अतः पहले इसमें विरोध मालूम पड़ता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो-जाता है। जहां श्लेष इसका मूल होता है वहां विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। यहां 'क्षिति' 'शीतल' और 'पावक' शब्द श्लिष्ट हैं। जो पृथिवीका घातक होगा वह पालक कैसे होगा ? यह विरोध है परन्तु परिहार पक्षमें क्षितिका अर्थ कर्मरूप पार्थिव—पुद्गलपरमाणु—लेनेसे विरोध दूर हो जाता है। इसी तरह जो शीतल—ठण्डा होगा वह पावक—अग्नि कैसे होगा ? यह विरोध है परन्तु शीतलका अर्थ दशमतीर्थंकर और पावकका अर्थ पवित्र करने वाले लेनेसे सब विरोध दूर हो जाता है। अथवा हे भगवन् ! 'आप घातक होकर भी प्रपालक हैं और शीतल होकर भी अग्नि हैं' यह 'विरोध' क्षितेरेव-पृथिवीवत् जड़ मनुष्योंको ही हो सकता है न तु विदुषाम्—विद्वानोंको नहीं ॥४१॥

(मुरजः)

कामभेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥४२॥

कामेति—काममत्यर्थं कमनीयं वा । एत्य गत्वा । जगत्सारं त्रिलोकसारम् । जनाः लोकाः । स्नात अज्ञानमलप्रक्षालनं कुरुध्वम् । महसां तेजसां[1] निधिः अवस्थानं यः सः अतस्तं महोनिधिम् । विमलः

---

1 'महस्तूत्सवतेजसोः' इति विश्वलोचनः ।

निर्मलः अत्यन्तः अपर्यन्तः गम्भीरः अगाधः यः सः विमलात्यन्तगम्भीरः अतस्तं विमलात्यन्तगम्भीरम् । जिन एव अमृतमहोदधिःक्षीरसमुद्रः जिनामृतमहोदधिः अतस्तं जिनामृतमहोदधिम् । एतदुक्तं भवति—यतः एवंभूतः शीतलभट्टारकः ततस्तं शीतलं जिनामृतमहोनिधिं विमलं अत्यन्तगम्भीरं हे जना एत्य गत्वा स्नात कामम् ॥४२॥

अर्थ - हे भव्यजीवो ! तुम उस जिनेन्द्ररूपी क्षीरसमुद्रको प्राप्त कर यथेष्ट स्नान करो—कर्ममलको धोकर अपने आपको पवित्र बनाओ—जो कि तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ है, उत्सव अथवा तेजका स्थान है, विमल है—कर्ममल और कर्दम आदिसे रहित है, अत्यन्त है - विनाश-रहित और पार-रहित है, तथा गम्भीर है—धीरवीर और गहरा है।

भावार्थ—इस श्लोकमें रूपकालंकारसे जिनेन्द्रदेव और क्षीर-समुद्रमें अभेद किया गया है। इसके जो विशेषण दिये गये हैं वे प्रायः श्लेषमय होनेसे दोनोंके—जिनेन्द्र और क्षीरसमुद्रके — पक्ष-में ठीक ठीक बैठ जाते हैं। यथा—जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव तीनों लोकोंमें सारभूत हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी सारभूत है। जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त पराक्रम आदि तेजके भण्डार हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी देवकृत अनेक उत्सवोंका भण्डार है। जिनेन्द्रदेव जिस तरह कर्ममलसे रहित होनेके कारण विमल हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी कर्दम-शैवाल आदि मलके न होनेसे विमल है। जिस तरह जिनेन्द्र देव अन्तसे रहित हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी अन्तसे-पारसे रहित है—अत्यन्त विस्तृत है। और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार गम्भीर हैं--रागद्वेषसे रहित होनेके कारण धीरवीर हैं—उसी तरह क्षीरसमुद्र भी गंभीर है—गहरा है। इस जिनेन्द्र रूपी भव्य क्षीरसमुद्र में स्नान करनेसे--भक्तिपूर्वक उनका ध्यान, करनेसे—सब कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये आचार्यने भव्य

जीवोंको इस अनुपम क्षीरसागरमें स्नान करनेका आदेश दिया है ॥४२॥

श्रेयोजिन-स्तुतिः

(अर्द्धभ्रमनिरौष्ठ्यगूढचतुर्थपादः)

हरतीज्याहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता।
तीर्थादि श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि ॥४३॥

हरतीति--अर्द्धेन भ्रमति यतः औष्ठ्याक्षरमपि न विद्यते सर्वत्र चतुर्थपादाक्षराणि च सर्वेषु पादेषु सन्ति ततो भवत्ययं एवंगुणः।

हरति विनाशयति। इज्या पूजा। आहिता कृता। तान्ति खेदं क्लेशं दुःखम्। रक्षार्था पालनार्था, आयस्य प्रयस्य यत्नं कृत्वा। नेदिता समीपीकृता अन्तिकस्य णिचि कृते नेदादेशस्य रूपमेतत् क्तान्तस्य। शीतलतीर्थविच्छेदे उत्पन्नो यतः ततः तीर्थादिः संजातः तस्य सम्बोधनं हे तीर्थादे। श्रेयसे अभ्युदयाय। नेता नायकः। अज्यायः वृद्धत्व-हीनः। श्रेयसि एकादशतीर्थकरे त्वयि। अयस्य पुण्यस्य। हि यस्मात्। एतदुक्तं भवति--हे तीर्थादे अज्यायः त्वयि श्रेयसि आहिता इज्या रक्षार्था प्रयस्य पुण्यस्यान्तिका श्रेयोर्था इह लौकिकार्था तान्ति दुःखं हरति। यतस्ततस्त्वं नेता नायक एव नान्यः। उत्तरश्लोकयानि विशे-षणानि तान्यत्रैव द्रष्टव्यानि ॥४३॥

अर्थ—हे तीर्थके आदिमें होनेवाले[2]! जरारहित! श्रेयान्सनाथ भगवन्! प्रयत्नपूर्वक समीपीकृत तथा मन वचन काय-की एकाग्रतामें की गई आपकी पूजा सांसारिक सन्तापको

---

१ यह श्लोक अर्धभ्रम है, इसमें ओष्ठस्थानीय वर्ण नहीं हैं और चतुर्थपादके समस्त अक्षर तीन पादोंमें गूढ़ हैं।

२ भगवान् शीतलनाथके तीर्थके अन्तिम समयमें तीर्थ-धर्मका विच्छेद हो गया था उसके बाद श्रेयान्सनाथका जन्म हुआ था। इसलिये उन्हें तीर्थके आदिमें होने वाला कहा है।

हरती है, पुण्यकी रक्षा करती है और अनेक कल्याण प्राप्त कराती है; अतः आप ही जगत्के सर्वश्रेष्ठ नायक हैं ॥४३॥

(अर्द्धभ्रमः)

अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।
वेशा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ॥४४॥

अविवेकेति—त्वयि श्रेयसि इत्यनुवर्त्तते । अविवेकः अनालोचनम् । न प्रतिषेधवचनम् । वा समुच्चये । जातु कदाचित् । विभूषा शरीरालंकारः । आपत् विपत् महासंक्लेशः । मनोरुजा चित्तपीड़ा । वेषा शरीरविन्यासः । माया वंचना । हे अज सर्वज्ञ । वा समुच्चये । एनो वा पापं वा । कोपः क्रोधः हिंसापरिणामः । आगश्च अपराधश्च । जन्म उत्पत्तिः । न प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः । किमुक्तं भवति—हे श्रेयन् अस्मिन् त्वयि अविवेको न कदाचिदभून, विभूषा वा न, आपद्वा न, मनोरुजा वा न, वेषा वा न, माया वा न, हे अज एनो वा न, कोपः आगश्च जन्म च न, यतः यतः ततो भवानेव नेतेति सम्बन्धः । अविवेको नास्तीति वचनेन सांख्य-सौगत-यौगानां निराकरणं कृतम् । अन्यैर्विशेषणैरन्ये निराकृताः ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ ! (सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होनेपर) आपमें कभी अज्ञान नहीं था, आपके शरीरपर कभी आभूषण न थे तथा आपत्ति—शारीरिक व्यथा, मानसिक व्यथा, तरह तरहके वेष, छलकपट, पाप, क्रोध, अपराध तथा जन्म आदि कभी नहीं थे इस कारण आप ही सबके नायक हैं ।

भावार्थ—सांख्य, बौद्ध तथा नैयायिक ईश्वरको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते किन्तु ज्ञानगुणका आधार मानते हैं अतः उनका निराकरण करनेके लिये कहा गया है कि आपमें अविवेक कभी नहीं था—आप हमेशा ज्ञानस्वरूप रहते हैं । कितने ही मतावलम्बी अपने देव-देवताओंको तरह तरहके आभूषण, वेषविन्यास,

तथा शत्रुको मारनेके लिये चिन्ता छल कपट क्रोध पापाचार एवं अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका धारण करना मानते हैं। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि हमारे ईश्वर एक बार मुक्त हो चुकने पर भी असत् पुरुषोंके निग्रहके लिये, सज्जनोंके उपकारके लिये और सद्धर्मकी स्थापनाके लिये पुनर्जन्म होते हैं—फिरसे संसारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं[1]। इसलिये श्लोकगत अन्य समस्त विशेषणोंसे उनका निराकरण हो जाता है ॥ ४४ ॥

(मुरजः)

आलोक्य चारु लावण्यं पदाल्लातुमिवोर्जितम् ।
त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातु ध्रुवोदितम् ॥४५॥

आलोक्येति—आलोक्य दृष्ट्वा । चारु शोभनम् । लावण्यं सारूप्यं सौभाग्यम् । पदात् पादात् । लातुं ग्रहीतुम् । इव औपम्ये । ऊर्जितं महत् । त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी । च अत्यर्थे । अखिला निरवशेषा । पुण्यं शुभम् । मुदा हर्षेण । दातु दत्तम् । ध्रुवोदितं नित्योद्गतम् । श्रेयसोऽत्यनुवर्त्तते । किमुक्तं भवति—यस्य श्रेयसो भट्टारकस्य पादात् त्रिलोकी अखिला आलोक्य लावण्यं किं विशिष्टं पुण्यं दातु ध्रुवोदितमिवोर्जितं लातामिव ननाम इति सम्बन्धः । भट्टारकस्त्वं मा अव इत्युत्तरसम्बन्धः ॥ ४५ ॥

---

१ 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥
—गीता, चतुर्थ अध्याय ४ श्लोक ६, ७, ८ ।

अर्थ—हे प्रभो! हर्षपूर्वक पुण्य प्रदान करनेके लिये हमेशा प्रकाशमान और विस्तृत आपके चरणकमलोंके मनोहर सौन्दर्यको देखकर उनसे उसे लेने के लिये ही मानों ये तीन लोकके जीव आपको नमस्कार करते हैं[1]।

भावार्थ—भव्यजीव लोकोत्तर सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें जो अपना मस्तक झुकाते हैं सो मानों वे उनके चरणकमलोंका सौन्दर्य लेनेके लिये ही उन्हें नमस्कार करते हैं। यह उत्प्रेक्षालंकार है। ॥ ४५ ॥

(श्लोकयमकः)

अपराग समाश्रेयन्ननाम यमितोभियम्।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नज वाजितः ॥४६॥
अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम्।
विदार्यसहितावार्य समुत्सन्नजवाजितः ॥४७॥

(युग्मं)

अपरागेति—अपराग वीतराग। समाश्रेयं सम्यगाश्रेयम्। ननाम नौतिस्म। त्रिलोकी इति सम्बन्धः। यं भट्टारकं। इतः प्राप्तः। भियं भीतिम्। विदार्य प्रभिद्य। सह हितेन वर्त्तन्ते इति सहिता. तैरावार्य्यः परिवेष्टितः सहितावार्यः तस्य संबोधनं हे सहितावार्य। सम्यग् मुत् हर्षः यस्यासौ समुत्। सन् भवन्। हे अज सर्वविन। वाजितः कंटकिनः। किमुक्तं भवति—यस्य पादान् त्रिलोकी लावण्यं लातुमिव यं ननाम। यं वा भव्यजनः इतः भयं विदार्य सहर्षः सन् वाजितः कंटकितः पुलकित-शरीरो भवति स त्वं मा अव इत्युत्तरत्र सम्बन्धः ॥ ४६ ॥

अपरागेति—पराग: संपरायः। न विद्यते परागो यस्यासावपरागः तस्य सबोधनं हे अपराग। स त्वं। मा अस्मान्। हे श्रेयन् एकादशती-

1 'ननाम' इत्युत्तरश्लोकगत-क्रियया सम्बन्धः

र्थंकर । आमयः व्याधिः, न विद्यते आमयो यस्यासावनामयः तं अनामयं, मा इति सम्बन्धः । इतः इतः प्रभृति । अभियं अभयम् । विद् ज्ञानम्, आर्याः साधवः; तै सहितः युक्तः विदार्यसहितः तस्य विदः ज्ञानिनः सम्बोधनं हे विदार्यसहित । अव रक्ष । आर्य पूज्य । समुत्सन्नजव । आजितः संग्रामात् कलहात् प्रणयसंग्रामाद्वा । किमुक्तं भवति—स एवं विशिष्टः त्वं हे श्रेयन् इतः प्रभृति अनामयं अभियं मा रक्ष आजितः समुत्सन्नजव अपराग ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! आप सुर, असुर, किन्नर आदि सभीके लिये आश्रयणीय हैं—सेव्य हैं—सभी आपका ध्यान करते हैं, आप सबका हित करने वाले हैं अतः हिताभिलाषी-जन सदा आपको घेरे रहते हैं—आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते हैं । आपकी शरणको प्राप्त हुए भक्त पुरुष भयको नष्ट कर—निर्भय हो, हर्षसे रोमाञ्चित हो जाते हैं । आप परागसे—कषाय-रजसे-रहित हैं । ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुषोंसे सहित हैं, पूज्य हैं, तथा रागद्वेषरूप संग्रामसे आपका वेग नष्ट होगया है—आप रागद्वेषसे रहित हैं । मैं आपके दर्शन मात्रसे ही आरोग्यता और निर्भयताको प्राप्त हो गया हूं । हे श्रेयान्स देव ! मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

वासुपूज्य-जिन-स्तुतिः

(अनन्तरपादमुरजबन्धः)

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः क ईदृशः ॥ ४८ ॥

अभीति—प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोः पादयोः मुरजबन्धो द्रष्टव्यः ।

अभिषिक्तः मेरुमस्तके स्नापितः । सुरैः देवैः । लोकैस्त्रिभिः भवन-

वासिमनुष्यदेवेन्द्रैः। भक्तः सेवितः। परैरन्यैः कैर्न सेवितः किन्तु सेवित एव। हे वासुपूज्य द्वादशतीर्थंकर। मयि विषये मम वा। ईशानामीशः ईशेशः त्वं। सुष्ठु पूज्यः सुपूज्यः। क ईदृशः युष्मत्समानः अन्यः क इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—हे वासुपूज्य यः लोकैः त्रिभिः अभिषिक्तः भक्तश्च सः अन्यैः कैर्न भक्तः सेवितश्च ततो मयि मम त्वमेव ईशेशः अन्यः ईदृशः सुपूज्यः कः यः अस्माकं स्वामी भवेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे प्रभो! जब देवोंने (मेरु पर्वतपर ले जाकर) आपका अभिषेक किया और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि तीनों लोकोंके जीवोंने आपकी सेवा की तब ऐसा कौन होगा जो आपकी सेवा न करे? हे वासुपूज्य! आप मेरे विषयमें ईश्वरोंके ईश्वर हैं—मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ ईश्वर आप ही हैं—अतः आप ही पूजनीय हैं। आप जैसे अर्हत्पुरुष से भिन्न और कौन है जो मेरा स्वामी हो सके ॥ ४८ ॥

(मुरजः)

चार्वस्यैव क्रमेजस्य तुंगः सायो नमन्नभात्।
सर्वतो वक्त्रमेकास्यमंगं छायोनमप्यभात् ॥४९॥

चार्वेति—चारु शोभनम्। अस्यैव क्रमे पादे। अजस्य सर्वज्ञस्य। तुंगः महान्। सायः सपुण्यः। नमन् स्तुतिं कुर्वन्। अभात् शोभते स्म। विरुद्धमेतत्। नमन् सन् कथं तुंगः। अस्य पुनरजस्य नमन्नपि तुंगः। अतः एवकारः अत्रैव। सर्वतः समंततः। वक्त्रं मुखं। एकमास्यं यस्याङ्गस्य तदेकास्यं एकमुखम्। अङ्गं शरीरम्। छायया ऊनं छायोनं छायारहितम्। अच्छायत्वं ज्ञापितं भवति। छायोनमपि अभात् शोभतेस्म। विरुद्धमेतत्—एकास्यमंगमपि सर्वतो वक्त्रं यद्येकास्यं कथं सर्वतो वक्त्रं, अथ सर्वतो वक्त्रं कथमेकास्यम्। एतदपि विरुद्धम्—यदि छायोनं कथमभात्, अथाभात् कथं छायोनम्। अन्यत्र विरुद्धं अस्य पुनः सर्वज्ञस्य न

विरुद्धम् । घटत एव सर्वं यतश्च विरुद्धालंकृतिरियम् । किमुक्तं भवति—अनेन व्याजेन माहात्म्यं प्रदर्श्यास्य स्तवनं कृतं भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—इन सर्वज्ञ वासुपूज्य स्वामीके चरणकमलोंमें नमस्कार करनेवाला पुरुष निश्चयसे पुण्यवान् और उच्च होता हुआ अत्यन्त शोभायमान होता है। इनका शरीर यद्यपि एक मुखवाला है तथापि उसमें चारों ओरसे मुख दिखाई देते हैं—वह चतुर्मुख है तथा छाया-कान्ति से (पक्षमें परछाईं से) रहित होकर भी अत्यन्त शोभायमान होता था।

भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है—'जो चरणोंमें नम्र होता है वह उच्च नहीं होता और जो उच्च होता है वह किसीके चरणों में नम्र नहीं होता'—यह लोकगतविरुद्ध बात है, परन्तु भगवान् वासुपूज्य लोकोत्तर पुरुष हैं उनमें लोकगत विरोध स्थान नहीं पा सकता—उनके चरणोंमें नमस्कार करनेवाला पुरुष निश्चित ही सातिशय पुण्य बन्धकर उच्च पद पाता है।

'जिसके एक मुख होगा वह सामनेसे ही दिखाई देगा-चारों ओर से नहीं, परन्तु भगवान् वासुपूज्यके एकमुख होकर भी सब ओरसे दिखाई देता था'—यह विरुद्ध बात है; परन्तु यह विरोध भी उनमें लागू नहीं होता क्योंकि केवलज्ञानके कालमें होनेवाले अतिशयविशेषसे उनका मुख चारों ओरसे दिखाई देता है।

'जो शरीर छायासे रहित होता है वह शोभित नहीं होता, परन्तु भगवान् वासुपूज्य का शरीर छायासे रहित होकर भी अत्यन्त शोभायमान होता था'—यह विरुद्ध बात है परन्तु उसका परिहार निम्न प्रकार है—यहां छाया शब्द के दो अर्थ हैं—कान्ति[2] और प्रतिबिम्ब। उनमें प्रथम कान्ति अर्थसे विरोध आता है और द्वितीय प्रतिबिम्ब अर्थसे उसका परिहार

२ 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः ।

होजाता है। भगवान्के शरीरकी परछाइँ नहीं पड़ती फिर भी वह कान्तिसे अत्यन्त सुन्दर होता है ॥ ४६ ॥

विमल-जिन-स्तुति

(इष्टपादमुरजबन्धः)

[1]क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।
श्रीमद्विमलमर्चेमं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥

क्रमेति—क्रमतां अप्रतिबन्धेन व्रजत् । व्रजतां वा । अक्रमं युगपत् । क्षेमं कुशलं सुखम् । धीमतां बुद्धिमताम् । कर्त्तरि ता । अर्च्यं पूज्यम् । अश्रमं श्रमरहितं अक्लेशम् । श्रीमांश्चासौ विमलश्च श्रीमद्विमलः अतस्तं श्रीमद्विमलं परमतीर्थंकरं त्रयोदशम् । अर्च क्रियापदं लोडन्तम् । इमं प्रत्यक्षवचनम् । वामैः प्रधानैः काम्यते इष्यते इति वामकामः अतस्तं वामकामम् । नम च चशब्दोऽनुक्तो द्रष्टव्यः । क्षमं समर्थं क्रोधादिरहितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—श्रीमद्विमलं सर्वविशेषणविशिष्टं अर्च नम च धीमतामर्च्यं क्षेमं क्रमतां अक्रमं सर्वेषां प्रणामादेव शान्तिर्भवति ॥ ५० ॥

अर्थ—हे भव्यजनो ! जो एक साथ सब पदार्थोंको जानते हैं, मंगलरूप हैं, बुद्धिमानोंके पूज्य हैं, खेदरहित हैं, अनन्त शक्तिसे सहित हैं और इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष जिनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ऐसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सहित इन विमलनाथ तीर्थंकरको पूजो तथा नमस्कार करो और उसके फलस्वरूप तत्क्षण उस कुशल अथवा सुखको विना किसी रुकावटके प्राप्त करो जो कि बुद्धिमानोंके द्वारा पूज्य है, परिश्रमसे रहित है और बड़े बड़े पुरुष जिसकी निरन्तर चाह रखते हैं।

१ लोडन्तप्रयोगः 'वृत्तिसर्गतापनेषु क्रमः' (१।३।३८ अष्टाध्यायी) इत्यात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्धः ।

भावार्थ—संसारमें दुःख प्राप्तिके मुख्य दो कारण हैं एक कषाय और दूसरा अज्ञान। हमारे आराध्यदेव वीतराग हैं—कषायरहित हैं और सर्वज्ञ भी हैं—अज्ञानसे रहित हैं अर्थात् दुःखके दोनों कारणोंसे रहित हैं—अनन्त-सुख-सम्पन्न हैं। जो भव्यजीव सच्चे हृदयसे उनकी भक्ति करता है वह भी तद्रूप होनेसे तत्कालमें सुखका अनुभव करने लगता है। अतः इस श्लोकमें आचार्य समन्तभद्रने सुखाभिलाषी जीवोंको सुख-प्राप्तिका उपाय बतलाया है। वह यही कि भगवान् विमलनाथ-को पूजो और नमस्कार करो। ॥ ५० ॥

(द्व्यक्षरपादाभ्यासयमकः[1])

ततोमृतिमतामीमं तमितामतिमुत्तमः ।
मतोमातातिता तोत्तुं तमितामतिमुत्तमाः ॥५१॥

ततोमृतीति—द्वितीयपादोऽभ्यस्तः पुनरुक्तः तकारमकारयोरेवास्तित्वं नान्येषाम्। यतस्ततो भवत्ययं द्व्यक्षरपादाभ्यासयमकः।

विमल इत्यनुवर्त्तते। ततस्तस्मादहं विमलं अमृतिं मरणवर्जितम्। अतामि सततं गच्छामि। इमं प्रत्यक्षवचनम्। तमिता विनाशिता अमतिः अज्ञानं येनासौ तमितामतिः तं तमितामतिम्। उत्तमः प्रधानः यतस्त्वमिति सर्वत्र सम्बन्धः। मतः पूजितः। अमाता अहिंसकः। अतिता सततगतिरर्हन्निति सम्बन्धः। तोत्तुं प्रेरितुम्। तमितां अक्षमस्व रूपम्। अति पूजा मुत् हर्षः यस्यासौ अतिमुत्, सर्वे इमे अतिमुदः, एतेषां मध्ये अयमतिशयेन अतिमुत् अमुत्तम. किमुक्तं भवति—यतो भवतः प्रणामात्क्षमः क्षेमं क्रमते स्तोतृणाम् ततोऽहमुत्तमः सन् अति-

---

[1] यह श्लोक सिर्फ 'त' और 'म' इन दो अक्षरोंसे बनाया गया है तथा इसका दूसरा और चौथा पाद एक समान हैं इसलिये इसमें व्यंजन-चित्र और यमक अलंकार है।

मुत्तमः सन् मतः अमाता अतिताहं तान्तु तमितां क्लेशितुं अता म विमलं अमृतिम् ॥५१॥

अर्थ—जब कि पूजा और नमस्कार करनेसे भव्य पुरुषोंको तत्क्षणमें अनेक कल्याण प्राप्त होते हैं—उनका संसार-भ्रमण तक रुक जाता है, तब मैं भी अपने दुःखोंको नष्ट करने के उद्देश्यसे अत्यन्त हर्षित होता हुआ मृत्युरहित और समस्त अज्ञानको नष्ट करनेवाले उन विमलनाथ स्वामीकी शरणमें जाता हूं—उनकी पूजा और वन्दना करता हूं जोकि सर्वोत्तम हैं, सर्वपूजित हैं, और परम अहिंसक हैं तथा मैं इसके विपरीत चतुर्गतिरूप-संसारमें भ्रमण करनेवाला हूँ ॥५१॥

(चक्रश्लोकः)

(अक्षरद्वयविरचितसमुद्गयमकः)

नेताननतनुते[1]नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।
नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात्[2] ॥५२॥

नेतेति—यादृग्भूतं पूर्वार्द्धं पश्चार्द्धमपि तादृग्भूतमेव । तकारनकारयोरेवास्तित्वं नान्येषाम् । अतः एवंभूतः।

न प्रतिषेधः । इनान् प्राणान् । अतनुते अशरीरित्वे (तलन्तं) तस्य विकल्पेन आडागमः । न विद्यते एनः पापं यस्यासौ अनेनाः तस्य सम्बोधनं हे अनेनः । अनितान्तं क्लेशरहितं यथा भवति । न अततः

१ 'अतनुते' इतिच्छेदः । तनोर्भावः कर्म वा तनुता, अविद्यमाना तनुता यस्मिन् तस्मिन् अतनुते अशरीरित्वे—सिद्धत्वपर्याये इत्यर्थः । समासे सति 'गोस्त्रियोरुप सर्जनस्य' इत्युपसर्जनह्रस्वत्वे सत्यकारान्तं रूपम् । यत्तु संस्कृतटीकायां तलन्तस्य अतनुता शब्दस्य विकल्पेन आडागम उक्तं तच्चिन्त्यं, तलन्तस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् ।

२ 'नुतात्' इत्यत्र भावे क्तः । नमस्कारादित्यर्थः ।

न सदा गच्छतः पूर्वोपि न शब्दः अत्रैवाभिसम्बन्धनीयः तेन किमुक्तं भवति—न न अततः अतत एव। द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः। नुतात् प्रणुतात्। नेता नायकः। न तनुते महान् संपद्यते, न अत्रापि पूर्ववत् सम्बन्धः। न न तनुते किन्तु तनुत एव। इनः स्वामी सन्। नितान्तं अत्यर्थं। ना पुरुषः। ततः तस्मात्। नुतात् नुयात्। तात-इन्तं क्रियापदम्। किमुक्तं भवति—इतान् प्राप्तान् न न अतत: संसारिणः अतनुते अशरीरित्वे सिद्धत्वे तनुते विस्तारयति नायकः स्वामी यः प्रणामाद्धेतोः। अतः तं ना नुतात्॥५२॥

अर्थ—हे पापरहित! विमलनाथ जिनेन्द्र! आप शरणमें आये हुये संसारी प्राणियोंको विना किसी क्लेशके शरीररहित अवस्था—सिद्धत्व पर्याय—प्राप्त करा देते हैं तथा आपको नमस्कारकरनेसे प्राणी सबका स्वामी और नायक होजाता है। अतः हे भव्यजनों! ऐसे इन विमलनाथ स्वामीको तुम भी नमस्कार करो।

भावार्थ—आपको नमस्कार करनेवाले मानव अरहन्त-अवस्था प्राप्त कर सबके स्वामी और नायक बनते हैं और अन्तमें पाप से—कर्ममलसे—रहित होकर सिद्धत्व पर्यायको पा लेते हैं, इसलिये आचार्य समन्तभद्रने भव्य जीवोंको आपकी भक्ति करनेके लिये प्रेरित किया है ॥५२॥

(चक्रश्लोकः)

नयमानक्षमामान न मामार्यार्त्तिनाशन।
नशनादस्य[1] नो येन नये[2] नोरोरिमाय[3] न ॥५३॥

---

१ 'अस्य' इति 'असु प्रक्षेपे' इत्यस्य दैवादिकस्य धातोर्लोट् मध्यमपुरुषैकवचनस्य रूपम्। १—२ न नो नये न न अरिमाय इत्युभयत्र प्रतिषेधवाचकौ द्वौ नञ् शब्दौ प्रकृतार्थं दृढयतः। अयं श्लोकोऽलंकारचिन्तामणौ द्वितीयपरिच्छेदे चित्रालंकारस्यावान्तरभेदस्य पादोत्तरजातेरूदाहरणरूपेणोपन्यस्तः। तथाहि—

नयमेति — नयमानक्षम पूज्यमानक्षम नयमाना क्षमा यस्यासौ नयमानक्षमः तस्य सम्बोधनं हे नयमानक्षम । न विद्यते मानं उद्धृतिः परिमाणं वा यस्यासावमानः तस्य सम्बोधनं हे अमान । न प्रतिषेधवचनम् । मां अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । आर्याणां साधूनां अर्त्तिः पीडा तां नाशयतीत्यार्यार्त्तिनाशनः कर्तरि ल्युट् बहुलवचनात् । ततः हे आर्यार्त्तिनाशन । नशनात् विनाशात् जातिजरामरणेभ्यः इत्यर्थः । अस्य उत्सारय । असु क्षेपणे इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम् । नो प्रतिषेधः । येन कारणेन नये पूजामहं लभे संमाननेयं विधिः । न नो प्रतिषेधवचने अत्र सम्बन्धनीये । न नो नये किन्तु नये एव । द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः । न प्रतिषेधे । हे उरो महन् । अरिमाय अरिहिंसक । अरीन् अन्तः शत्रून् मिनाति हन्तीति अरिमायः ततः हे अरिमाय । पूर्वोक्तोऽपि न अत्र सम्बन्धनीयः । हे न न अरिमाय । किमुक्तं भवति — हे नयमानक्षम अमान आर्यार्तिनाशन न न अरिमाय मां विनाशात् अस्य अपनय । येन न नो नये अहं । येन पूजामहं लभे इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

नयप्रमाणसम्बुद्धिः शमः का श्रीमुखेऽपि सा ।
किं निषेधेऽव्ययं लोक-नाशिनो दुःखि किं कुलम् ॥७३॥
कः पुमानन्न सम्बुद्धिः का च नश्वरनिःस्वने ।
कोटि किं पदमस्माकमित्यर्थे केन नाश्यते ॥७४॥
वस्त्वंशो बुध्यते केन वृक्षश्चक्रं रमा च का ।
सम्बरमराद्ध सम्बुद्धिः का कथं जिन ईड्यते ॥७५॥
नयमान क्षमामान नमामार्यार्त्तिनाशन ।
नशनादस्य नो येन नये नारोरिमाय न ॥७६॥

नयमान । क्षमा । मानन—लक्ष्मीमुख । मा । मारी । आर्त्ति-अर्तध्यानमस्यास्तीति । ना । अशन । नशनाद नश्यतीति नशस्तस्यनाद । स्य—षोऽन्तकर्मणीति धातोर्मध्यमपुरुषः । नः । येन—यमेन । नयेन । उरः । अरि—अराः सन्त्यस्मिन्निति । मा अयन । कथं जिन ईड्यते इति प्रश्नस्य सर्वश्लोकार्थः ।

अर्थ—हे प्रशंसनीय क्षमासे युक्त। हे अहंकार-शून्य! हे साधुपुरुषोंकी पीड़ाको नष्ट करनेवाले! हे कर्मशत्रुओंके घातक! हे सर्वश्रेष्ठ! विमलनाथ स्वामिन्! आप मुझे इस जन्ममरण-रूप विनाशसे दूर कीजिये—मेरे जन्म-मरणके दुःख नष्ट कीजिये, जिससे मैं भी (आपकी तरह) उत्तम स्थानको—स्वात्मस्थितिरूप निर्वाणपदको—प्राप्त हो सकूँ ॥५३॥

(गूढस्वेष्टपादचक्रश्लोकः[1])

वर्णभार्यातिनन्द्याव[2] वन्द्यानन्त सदारव।
वरदातिनतार्यार्व वर्यातान्तसभार्णव ॥५४॥

वर्णेति—आत्मनः इष्टं पादः सोऽन्येषु पादेषु गुप्यते यतः। वर्णेन शरीरप्रभया भाति शोभते इति वर्णभः शरीरकान्त्युत्कट इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं हे वर्णभ। आर्य पूज्य। अतिनन्द्य सुष्ठुसमृद्ध। अव रक्ष। लोडन्तस्य रूपं क्रियापदम्। वन्द्य देवासुरैरभिवन्द्य। हे अनन्त चतुर्दशतीर्थंकर। सत् शोभनः आरवः वाणी सर्वभाषात्मिका यस्यासौ सदारवः तस्य सम्बोधनं हे सदारव। वरद इष्टद कामदायक। अति शोभनं नताः प्रणताः अतिनताः अतिनताश्च ते आर्याश्च अतिनतार्याः तान् अवति रक्षतीति अतिनतार्यावः तस्य सम्बोधनं हे अतिनतार्याव। वर्य प्रधान। सभा एव अर्णवः समुद्रः सभार्णवः अतान्त अखिभिन्नः अक्षुभितः सभार्णवः समवसृतिसमुद्रः यस्यासौ अतान्तसभार्णवः तस्य सम्बोधनं हे अतान्तसभार्णव। किमुक्तं भवति—हे अनन्त वर्णभादिविशेषणविशिष्ट अव पालय मामिति सम्बन्धः। अन्यांश्च पालय ॥५४॥

अर्थ—हे अनुपम सौन्दर्यसे शोभायमान! हे अष्ट महा-

---

[1] इसश्लोकमें स्वेष्ट—मन चाहा—पाद शेष तीन पादोंमें गूढ़ है तथा चक्रवद्ध नामक चित्रालंकार भी है।

[2] वर्णभ+आर्य+अतिनन्द्य+अव इति पदच्छेदः। अव रक्षेति क्रियापदम्।

प्रातिहार्यरूप विभूतिसे सम्पन्न! हे सुर-असुरोंके द्वारा वन्द-नीय! हे उत्तम दिव्यध्वनिसे सहित! हे इच्छित पदार्थोंके देने वाले! हे अत्यन्त नम्र साधुपुरुषोंके रक्षक! हे श्रेष्ठ! हे क्षोभ-रहित! समवसरण-समुद्रसे संयुक्त! अनन्तनाथजिनेन्द्र! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे संसारके दुःखोंसे बचाइये ॥५४॥

अनन्त-जिन-स्तुतिः

(गूढद्वितीयतृतीयान्यतरपादद्व्यक्षरमयश्लोकः)

नुन्नानृतोन्नतानन्त नूतानीतिनुताननः ।
नतोनूनोनितान्तं ते नेतातान्ते निनौति ना ॥५५॥

नुन्नेति—द्वितीयतृतीयान्यतरपादो गुप्यते नकारतकारयोरेवास्तित्वं नान्येषां यतः ।

नुन्नं क्षिप्तं अनृतं असत्यं येनासौ नुन्नानृतः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नानृत अनेकान्तवादिन् । उन्नत महन् । अनन्यसम्भूतैर्गुणैर्यदि भट्टा-रकस्य उन्नतत्वं न भवति कस्यान्यस्य भविष्यति । अनन्त अपरिमाण भट्टार-कस्य नाम वा । नूताः स्तुताः अनीतयः मिद्धा यैस्ते नूतानीतयः तैर्नुतं स्तुतं पूजितं आननं मुखं यस्य स्तोतुः असौ नूतानीतिनुताननः स्तुतिकर्त्ता पुरुषः । नतः प्रणतः । अनूनः अविकलः सम्पूर्णः । अनितान्तं क्लेशरहितं, क्लेशरहितं यथा भवति क्रियाविशेषणमेतत् । ते त्वां तुभ्यं वा । नेता नायकः इन्द्रादिः । अतान्ते अतान्तनिमित्तम् मोक्षनिमित्तमित्यर्थः । निनौति प्रणौति । ना पुरुषः चक्रधरादिः । किमुक्तं भवति—हे अनन्त नुन्ना-नृत उन्नत नेता निनौति नेता नायकोपि सन् । विरुद्धमेतत् । यदि नायकः कथमन्यस्य प्रणामं करोति अथ प्रणामं करोति कथं नायकः त्वां पुनः नौति नायकोपि मोक्षनिमित्तं ततस्त्वमेव नायकः ॥५५॥

---

२ नुन्नानृत + उन्नत + अनन्त इतिपदच्छेदः ।

अर्थ—एकान्तवादरूप समस्त असत्यको नष्ट करनेवाले ! सर्वश्रेष्ठ ! हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र ! सिद्धपरमेष्ठीकी स्तुति करनेसे जिनके मुख पूज्य गिने जाते हैं और जो आपके चरणोंमें नम्र रहते हैं ऐसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त नायक-प्रधान पुरुष-भी मोक्षप्राप्तिके लिये विना किसी क्लेशके—सहज स्वभावसे प्रेरित होकर—आपको नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि यह विरुद्ध बात है कि—जो स्वयं नायक होगा वह अन्यको प्रणाम कैसे करेगा ? और अन्यको प्रणाम करेगा तो वह नायक कैसे होगा ? परन्तु आपको संसारके अन्य समस्त नायक नमस्कार करते हैं; क्योंकि आप ही उन सबमें श्रेष्ठ हैं और उस श्रेष्ठताका कारण यही है कि आपको नमस्कार करनेसे मोक्षप्राप्त होता है ॥५५॥

धर्म-जिन-स्तुतिः

(गूढद्वितीयचतुर्थान्यतरपादोऽर्द्धभ्रमः[1])

त्वमवाध दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन ।
वाधस्वाशमनागो मे धर्म शर्मतमप्रद ॥५६॥

त्वमिति—त्वं युष्मदो रूपम् । न विद्यते वाधा यस्यासावबाधः तस्य सम्बोधनं हे अवाध । दमेन उत्तमक्षमया ऋद्ध वृद्ध । मत पूजित । धर्मप्र उत्तमक्षमादिना आप्यायकपूरण । गोधन गौर्वाणी धनं यस्यासौ गोधनः तस्य सम्बोधनं हे गोधन । वाधस्व विनाशय । अशं दुःखम् । अनागः निर्दोष । मे मम । धर्म पञ्चदशतीर्थंकर । शर्म सुखम् । सर्वाणि

1 यहां द्वितीय अथवा चतुर्थ पादमेंसे कोई एक पाद अन्य पादोंके अक्षरोंमें गुप्त है। इसके सिवाय यह अर्धभ्रम भी है।

इमानि शर्म्माणि एतेषां मध्ये अतिशयेन इमानि शर्माणि शर्मतमानि तानि प्रददाति यः सः शर्मतमप्रद तस्य सम्बोधनं हे शर्मतमप्रद ॥ एतदुक्तं भवति— हे धर्म अवाध दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन अनागः शर्मतमप्रद त्वं मे अशं वाधस्व ॥५६॥

अर्थ—हे बाधा (विनाश) रहित ! हे इन्द्रियदमन अथवा क्षमासे वृद्ध ! हे पूज्य ! हे उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके पूरक-धारक ! हे दिव्यध्वनिरूप ! धनसे सहित ! हे निर्दोष ! हे मोक्ष-रूप उत्तम सुखके देनेवाले धर्मनाथ भगवन् ! मेरे दुःखको—जन्ममरणकी बाधाको—नष्ट कीजिये ॥५६॥

(गतप्रत्यागतैकश्लोकः)

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।
रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ॥ ५७ ॥

नतेति—क्रमपाठे यान्यक्षराणि विपरीतपाठेपि तान्येव । नतान् प्रणतान् पालयति रक्षतीति नतपालः तस्य सम्बोधनं हे नतपाल । महान्तो राजानो यस्य स महाराजः 'टः मान्तः'[1] तस्य सम्बोधनं महाराज । अथवा नतपाला महाराजा यस्यासौ नतपालमहाराजः तस्य सम्बोधनं नतपालमहाराज । मम गीत्यानुत अस्मत्स्तवनेन पूजित । अक्षर अनश्वर । रक्ष पालय । मां अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अतनुत्यागी अनल्पदाता । जराहा वृद्धत्वहीनः, उपलक्षणमेतत् जातिजरामरणहीन इत्यर्थः । मलं पापं अज्ञानं पातयति नाशयतीति मलपातनः कर्तरि युट् बहुलवचनात् । तस्य सम्बोधनं हे मलपातन । एतदुक्तं भवति —हे धर्म नतपाल महाराज गीत्यानुत मम अक्षर जराहा मलपातन रक्ष मां अतनुत्यागी यतस्त्वम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे नम्रमनुष्योंके रक्षक ! हे मत्कृत (मेरे द्वारा की

१ जैनेन्द्रव्याकरणस्य सूत्रमिदम्

गई) स्तुतिसे पूजित! हे अविनाशी ! हे दुष्कर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले! धर्मनाथ महाराज ! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे संसारके दुःखोंसे बचाकर अविनाशी मोक्षपद प्रदान कीजिये। क्योंकि आप महान् दाता हैं—सबसे बड़े दानी हैं और जन्म-जरा आदिको नष्ट करनेवाले हैं ॥ ५७ ॥

(मुरजः)

मानसादर्शसंक्रान्तं सेवे ते रूपमद्भुतम् ।
जिनस्योदयि सत्त्वान्तं स्तुवे चारूढमच्युतम् ॥५८॥

मानसेति—मन एव मानसं चित्तमित्यर्थः मनसमेवादर्शः दर्पणः मानसादर्शः मानसादर्शे संक्रान्तं प्रतिबिम्बितं मानसादर्शसंक्रान्तम् । सेवे भजामि । ते तव । रूपं शरीरकान्तिम् । अद्भुतं आश्चर्यभूतम् । जिनस्य त्रैलोक्यनाथस्य । उदयि उदयान्वितम् । सतः शोभनस्य भावः सत्त्वं, सत्त्वस्यान्तं अवसानं परमकाष्ठा सत्त्वान्तम् । स्तुवे वन्दे । च समुच्चये । आरूढं अध्यारूढं । अच्युतं अहीनं अक्षरम् । च समुच्चयार्थः । जिनस्य रूपं सेवेऽहं स्तुवे च किंविशिष्टं रूपं मानसादर्शसंक्रान्तम् । पुनरपि किंविशिष्टं अद्भुतं उदयि सत्त्वान्तमारूढं अच्युतमिति परमभाक्तिकस्य वचनम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मैं आपके उस अनुपम रूप-सौन्दर्यकी उपासना और स्तुति करता हूँ जो कि सब जीवोंको आश्चर्य करनेवाला है, सदा उदयरूप रहता है, उत्तमताकी पराकाष्ठा है, आरूढ है, विनाशरहित है और मेरे मनरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होरहा है ॥ ५८ ॥

(मुरजः)

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।
न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥५९॥

यतः इति—यतः यस्मात्। कोपि कश्चिदपि। गुणान् जिनस्यासाधारणधर्मान्। उक्त्या वचनेन। नावा पोतेन। अब्धीन् समुद्रान्। अपि संभावने। पारयेत् प्लवताम्। न प्रतिषेधे। तथापि एवमपि। क्षणात् अक्षिसंकोचात् समयाद्वा। भक्त्या सेवया। तव ते। आत्मानं स्वम्। तु पुनः। पावयेत् पवित्रीकुर्यात्। समुदायार्थः-यतो निश्चितं चेतो मम नावाब्धीनपि पारयेत् तव गुणाननन्तान् कश्चिदपि न पारयेत् यद्यपि तथापि क्षणात् भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत्। कुतएतत् स्तुतिमाहात्म्यात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—हे भगवन्! यदि कोई चाहे तो नावके द्वारा समुद्रोंको पार कर सकता है। परन्तु स्तुतिरूप वचनोंसे आपके गुणोंको पार नहीं कर सकता—आपके गुण अनन्त हैं। यद्यपि यह निश्चित है तथापि भक्तपुरुष क्षणभरकी आपकी भक्तिसे अपने आपको पवित्र बना सकता है—आपकी भक्तिका माहात्म्य अचिन्त्य है।

भावार्थ--हे भगवन ! आपके अनन्त गुणोंका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है फिर भी भव्यप्राणी आपकी भक्तिरूप शुभ भावनासे अपनी आत्माको पवित्र बना लेते हैं--अशुभकर्मसे रहित कर लेते हैं और परम्परासे मोक्षभी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५६ ॥

(मुरजः)

रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

रुचमिति—रुचं दीप्तिं तेजः। बिभर्ति धरते। ना पुरुषः। धीरं गभीरं सावष्टम्भं यथा भवति क्रियाविशेषणमेतत्। हे नाथ स्वामिन् अतिस्पष्टवेदनः अतिस्पष्टं विशदं वेदनं विज्ञानं यस्यासावतिस्पष्टवेदनः। वचः वचनम्। ते तव। भजनात् सेवनात्। सारं पर-

मतत्त्वभूतम् । यथा इवार्थे । अयो लोहम् । स्पर्शवेदिन: । सुवर्णभावकारिण: स्पर्शपाषाणस्य भजनात् सेवनात् । अस्य समुदायार्थ: कथ्यते—हे नाथ ना रुचं बिभर्ति ते भजनात् वचश्च सारं धीरं यथाभवति किं विशिष्ट: सन्ना अतिस्पष्टवेदन: । कथं ? दृष्टान्तं प्रदर्शयति यथा अय: स्पर्शवेदिन: ॥ ६० ॥

अर्थ—हे नाथ ! जिस प्रकार पारस पत्थरके स्पर्शसे लोहा (सुवर्णरूप होकर) तेज धारण करता है और उसके फलस्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ होजाता है उसी प्रकार भव्य पुरुष भी आपकी सेवासे—आराधनासे—अत्यन्त प्रत्यक्ष केवलज्ञानसे सहित होता हुआ विशुद्ध-सुस्थिर आत्मीय तेजको धारण कर लेता है । तथा उसके वचन भी श्रेष्ठ होजाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन ! आपकी भक्तिसे पुरुष केवलज्ञान तथा सातिशय दिव्य ध्वनिको प्राप्त होते हैं ॥ ६० ॥

(मुरज:)

प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां कल्याणेत: स्ववानत: ।
अप्यपूर्वार्थसिद्ध्येगां कल्याऽकृत भवान् युत: ॥६१॥

प्राप्येति—प्राप्य कृत्वा । सर्वार्थसिद्धिं विश्वकार्यनिष्पत्तिम् । गां पृथिवीम् । कल्याणेत: कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि इत: प्राप्त: कल्याणेत: । स्ववान् आत्मवान् । अत: अस्मात् । अपि । अपूर्वार्थस्य केवलज्ञानादिचतुष्टयस्य सिद्धि: प्राप्ति: अपूर्वार्थसिद्धि: तया अपूर्वार्थसिद्ध्या केवलज्ञानादिप्राप्त्या । इगां ईहां चेष्टां विहरणम् । हे कल्य समर्थ । अकृत कृतवान् । भवान् भट्टारक: । युत: युक्त: । समुदायार्थ:—भवान् कल्याणेत: सन् पुनरपि आत्मवान् सन् प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां अस्मादूर्ध्वं अपूर्वार्थसिद्ध्या युतोऽपि हे कल्य त्वं तथापि चेष्टां विहरणं अकृत अत: सत्यमेतत् "परार्था हि सतां चेष्टा" ॥ ६१ ॥

अर्थ—हे कल्प-समर्थ! जहां सब अर्थों–प्रयोजनोंकी सिद्धि–पूर्ति होती है ऐसी सर्वार्थसिद्धि[1] नामक पृथिवीको पाकर गर्भ जन्म आदि कल्याणकोंसे सहित हो आप स्ववान्–आत्मवान् (पक्षमें धनवान्) हुए थे—उत्पन्न हुए थे तथा इसके बाद आपने अनन्तचतुष्टयरूप अपूर्व अर्थकी सिद्धिसे सहित होनेपर भी विहार किया था। (हे भगवन्! इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि 'परार्था हि सतां चेष्टा'—सत्पुरुषोंकी समस्त चेष्टाएं परोपकारके लिये ही होती हैं)।

भावार्थ—जो पुरुष ऐसे स्थानको पा चुका हो जहां उसके सब मनोरथोंकी पूर्ति होती हो, अनेक कल्याण अथवा मंगलोंसे सहित हो, स्व-धन भी उसके पास पर्याप्त हो तथा इसके साथ अनोखे २ पदार्थोंकी प्राप्ति भी सदा होती रहती हो। सारांशतः- हर एक तरहसे सुखी हो—वह मनुष्य फिर भी यदि जहां तहां भ्रमणकर उपदेश आदि देनेकी चेष्टाएँ करता हो तो उसमें उसका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता। उसकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिये ही रहती हैं। प्रकृतमें—भगवान् धर्मनाथ भी पूर्वमें तपस्या करके सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त हुए थे। वहांसे चयकर जब वे पृथिवीपर आनेको उद्यत हुए तब देवोंने गर्भ-जन्म कल्याणक किये। गर्भमें आनेके छह माह पहले से—पन्द्रह माह तक—प्रतिदिन साढ़े दश करोड़ रत्नोंकी वर्षा की। इसके बाद जब ये दीक्षित हुए तब देवोंने तपःकल्याणक किया और जब इन्हें अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्तसुख और अनन्त वीर्यरूप अपूर्व अर्थकी प्राप्ति हुई तब भी देवोंने ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया—फलतः भगवान् धर्मनाथके

१ भगवान् धर्मनाथ सर्वार्थसिद्धि विमानसे चय कर गर्भमें अवतीर्ण हुए थे। —धर्मशर्माभ्युदय।

जिनके सब मनोरथ पूर्ण होचुके थे फिर भी इन्होंने जो अनेक आर्य देशोंमें विहारकर सब जीवोंको हितका उपदेश देनेकी चेष्टा की थी उसमें उनका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं था। केवल संसारके पथभ्रान्त पुरुषोंको सुपथ पर लाना ही उनका प्रयोजन था। इस श्लोकमें 'सर्वार्थसिद्धि' 'कल्याण' 'स्व' और 'अपूर्वार्थ' ये पद श्लिष्ट हैं—द्विअर्थक हैं, जिनका समन्वय ऊपर प्रकट किया गया है।

इस श्लोककी रचनाके पहले आचार्यके सामने अव्यक्त रूपसे एक प्रश्न उपस्थित होता है कि—जिनेन्द्रदेव जब मोहनीय कर्मका क्षय कर चुकते हैं—अपनी सब इच्छाओंका लय कर चुकते हैं—तब बिना इच्छाके उनका विहार और उपदेश कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर भी आचार्य समन्तभद्रने अव्यक्त रूपसे इसी श्लोकमें दिया है अर्थात निजका कुछ प्रयोजन न रहते हुए भी जिनेन्द्रदेवका विहार आदि होता है—सिर्फ परोपकारके लिये। यद्यपि वास्तवमें भगवान्के परोपकार करनेकी भी इच्छा नहीं रहती; क्योंकि वे इच्छाओंके मूलभूत मोहनीय कर्मका क्षय कर चुकते हैं—उनकी समस्त क्रियाएं मेघोंकी तरह, सिर्फ भव्य जीवोंके सौभाग्यसे ही होती हैं। आचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वयं कहा है कि 'अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते'।

(मुरजः)

भवत्येव धरा मान्या सूद्यातीति न विस्मये।
देवदेव पुरा धन्या प्रोद्यास्यति भुवि श्रिये॥ ६२॥

भवतीति—भवति भट्टारके त्वयि। एव अवधारणम्। धरा पृथिवी। मान्या पूज्या। सूद्याति उद्गच्छति प्रभवति। इति यस्मात्। न विस्मयेहं

न ममाश्चर्य्यम् । हे देवदेव देवानां देव: देवदेवः तस्य सम्बोधनं हे देवदेव परमेश्वर । पुरा पूर्वमेव । धन्या पुण्या । प्रोद्यास्यति प्रोद्गमिष्यति प्रभविष्यति । भुवि अस्मिन् लोके । श्रिये श्रीनिमित्तम् । समुदायेनार्थः कथ्यते— हे देवदेव सूद्याति भवति भगवति धरा मान्या भवतीति न विस्मयेऽहम् । यतः प्रोद्यास्यति भगवति पुरैव धन्या भुवि श्रीनिमित्तम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—हे देवोंके देव ! यह पृथिवी आपके जन्म लेनेसे ही पूज्य मानी जाती है—इस विषयमें मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आपके जन्म लेनेसे पहले ही यह पृथ्वी रत्नवर्षा आदिके द्वारा धन्य गिनी जाने लगती है तथा लक्ष्मीसे सम्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—जब तीर्थंकर भगवान् गर्भमें आते हैं उसके छह मास पहलेसे ही कुबेर सुन्दर नगरीकी रचना करता है, उसे धन-धान्य सुवर्ण रजत आदिसे सम्पन्न करता है और जन्म-समय तक अर्थात् पन्द्रह मास तक प्रतिदिन रत्नोंकी वर्षा किया करता है। हे प्रभो ! जब आपके उत्पन्न होनेके पहले ही यह पृथ्वी उत्तम हो जाती है तब आपके जन्म लेनेसे क्यों न उत्तम मानी जावेगी ? अवश्य मानी जावेगी ॥ ६२ ॥

(मुरजः)

एतच्चित्रं पुरो धीर स्नपितो मन्दरे शरैः ।
जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः ॥६३॥

एतदिति—एतत् प्रत्यक्षवचनम् । चित्रं आश्चर्य्यम् । पुरः पूर्वस्मिन् काले । धीर गभीर । स्नपितः अभिषेकितः । मन्दरे मेरुमस्तके । शरैः पानीयैः । जातमात्रः उत्पत्तिक्षणे । स्थिर सावष्टम्भ । उदार दानशील महन् । क्वापि एकस्मिन्नपि काले । त्वं युष्मदो रूपम् । अमरेश्वरैः देवदेवेन्द्रैः । समुदायार्थः—हे धीर मन्दरे शरैः त्वं स्नपितः जातमात्रः सन् हे स्थिरोदार अमरेश्वरैः पुरः क्वापि । चित्रमेतत् । कथं चित्रम् ?

बालस्य अस्माभिर्मन्दरे [गमनं स्नपनं वा] क्वापि न दृष्टं यतः ततः आश्चर्यम्। अथवा एवं चित्रमेतत् भट्टारके तीर्थे सर्वेपि प्राणिनः स्नान्ति, कथं पुरः देवैर्मन्दरे स्नपितश्चोद्यमेतत्। अथवा यो भवादृशः शरैः स कथं स्नाप्यते तथापि भवान् देवैः शरैः पानीयैः स्नपितः चित्रमेतत् ॥६३॥

अर्थ—हे धीर ! हे स्थिर ! हे उदार ! आपके उत्पन्न होते ही सबसे पहले, समस्त देव और इन्द्रोंने अद्भुत-अत्यन्त-उत्तुङ्ग एवं शोभा-सम्पन्न मेरु पर्वतपर क्षीरसागरके जलसे आपका अभिषेक किया था यह आश्चर्यकी बात है।

भावार्थ--यहां आश्चर्य निम्न बातोंसे हो सकता है—तत्कालमें उत्पन्न हुआ बालक मेरुपर्वतपर पहुँच जावे यह बात कभी देखनेमें नहीं आई इसलिये यह बात आश्चर्यजनक है अथवा तत्कालमें उत्पन्न हुए बालकका योजनों प्रमाण एक हजार आठ कलशोंसे अभिषेक किये जाने पर भी वह ज्योंका त्यों स्थिर रहा आवे यह आश्चर्यकी बात है। अथवा जिसके तीर्थमें--उपदिष्ट धर्ममें संसारके समस्त प्राणी स्नान करते हैं--तदनुकूल आचरणकर आत्मकल्याण करते हैं--उसका किसी दूसरेके द्वारा अभिषेक किया जाना आश्चर्यकी बात है। अथवा लोकोत्तर--सर्वश्रेष्ठ-प्रभावशाली—प्रभुका अभिषेक इन्द्रोंने जल-जैसे न-कुछ-तुच्छ पदार्थसे किया यह आश्चर्यकी बात है। अथवा जो स्वयं शुद्ध है और अपनी पवित्रतासे दूसरोंको पवित्र करनेवाला है उसको भी इन्द्र-जैसे बुद्धिमान् पुरुषोंने अभिषेक-द्वारा शुद्ध करनेकी व्यर्थ चेष्टा की यह बात आश्चर्य करनेवाली है। अथवा इन्द्रने शरसे--तृण अथवा बाणसे आपका अभिषेक किया जोकि असंभव होनेसे आश्चर्यकारी है (परिहार पक्षमें शरका अर्थ जल लिया जावेगा)।

इस श्लोकमें कविने जिन बातोंसे आश्चर्य प्रकट करते हुए विरोध प्रकट किया है उन सबका परिहार 'धीर' 'स्थिर' और

'उदार विशेषणोंसे होजाता है। यथा—हे भगवन्! आप इतने धीर और स्थिर हैं--इतने शक्तिशाली हैं--कि उत्पन्न होते ही निन्यानवे हज़ार योजन ऊँचे मेरुपर्वत पर एक हजार आठ कलशोंसे अभिषेक होनेपर भी आपमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं हो पाया। आपका अतुल्य बल प्रशंसनीय है। हे प्रभो! आप इतने उदार हैं महान् हैं—कि अल्पज्ञोंके द्वारा की हुई निःसार क्रियाओंसे आपको रोष नहीं आता--आप अपनी अगाध क्षमतासे सबको क्षमा कर देते हैं॥ ६३॥

(अनन्तरपादमुरजः)

तिरीटघटनिष्ठ्य तं हारीन्द्रौघविनिर्मितम्।
पदे स्नातः स्म गोक्षीरं तदेडित भगो[1]श्चिरम्॥६४॥

तिरीटेति—तिरीटानि मुकुटानि तान्येव घटाः कुम्भाः तिरीटघटाः तैर्निष्ठ्य तं निर्गमितं तिरीटघटनिष्ठ्य तम्। देवेन्द्रचक्रधरादिमुकुट-घटनिर्गतम्। हारि शोभनम्। इन्द्रौघविनिर्म्मितं देवेन्द्रसमितिविर-चितम्। इन्द्राणामोघः इन्द्रौघः तेन विनिर्म्मितं कृतं इन्द्रौघविनिर्म्मितम्। पदे पादौ। स्नातः स्म स्नातवन्तौ। गोक्षीरं रश्मिपयः। अथवा पदे पदनिमित्तं स्नातः स्म स्नातवन्तौ गोक्षीरम्। तदा स्नानानन्तरं सुरेन्द्रैः प्रणामकाले। ईडित पूजित। भगोः भगवन्। चिरं अत्यर्थं सुष्ठु इत्यर्थः। किमुक्तं भवति—हे भगवन् ईडित स्नानकाले ते पदे गोक्षीरं स्नातः स्म। किं विशिष्टं गोक्षीरं तिरीटघटनिष्ठ्य तं हारीन्द्रौघविनिर्मितम्॥६४॥

अर्थ--हे पूज्य! अभिषेकके बाद इन्द्रोंके समूहने जब आपके चरणकमलोंको नमस्कार किया था, तब उनके मुकुटरूपी घटसे मनोहर किरणरूपी दुग्ध प्रकट हुआ था, उसमें आपके चरण-कमलोंने मानो चिरकालतक स्नान किया था।

1 'भगोस्' इति सम्बुद्ध्यर्थकोऽव्ययः।

[जन्माभिषेक हो चुकनेके बाद इन्द्र-समुदाय जिस अभिषिक्त बालकके चरणोंमें मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं, नमस्कारके समय इन्द्रोंके मुकुटोंकी शुक्ल किरणें उस भगवान्के चरणोंपर पड़ती हैं उससे ऐसा मालूम होता है मानों भगवान्के चरण इन्द्रोंके मुकुटरूपी घटोंसे झरते हुए किरणरूप दूधमें स्नान कर रहे हों। यहां रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारसे वर्णन किया गया है। श्लोकमें आये हुए 'पदे' शब्दको 'पद' शब्दसे चतुर्थ्यन्त मानकर पुनः आवृत्ति करने और 'चिरं' शब्दपर अधिक लक्ष्य देनेसे एक और विचित्रभाव प्रतीत होने लगता है।]

भवार्थ--'इन्द्रोंने भगवान्का अभिषेक क्षीरसमुद्रके जलसे जो कि क्षीरके समान था, किया था। उससे उनका शरीर क्षीर-जैसा धवल होगया था। अभिषेक पूर्ण हो चुकने पर इन्द्रने उत्तम वस्त्रसे जब उनके शरीरको पोंछ लिया तब उसपरसे क्षीरकी प्रभा दूर होगई थी। परन्तु चरणकमलों पर नमस्कारके समय इन्द्रोंके मुकुटोंकी सफेद किरणें फिर भी पड़ रही थीं इसलिये चरण-कमल वस्त्रसे पोंछ जाने पर भी सफेद सफेद दिख रहे थे। उससे ऐसा मालूम होता था कि भगवान्के पदे—चरण, पदे (चतुर्थ्यन्त) किसी उत्तम पदको पानेके लिये शरीरके अन्य अवयवोंकी अपेक्षा चिर काल तक स्नान करते रहे हों। जो इतरजनोंकी अपेक्षा अपने आपको किसी अधिक उत्कर्षको प्राप्त कराना चाहता है उसको दूसरे जनोंकी अपेक्षा अधिक तल्लीनताके साथ उस कामको करना पड़ता है—यह स्वाभाविक बात है। चरणोंने चिरकाल तक क्षीरस्नानके द्वारा अपने आपको अत्यन्त पवित्र बना लिया था इसीलिये मानों इन्द्र आदि लोकोत्तर पुरुष उनके चरणोंको नमस्कार करते थे—हस्त, उदर और मस्तक आदिको नहीं ॥६४॥

(मुरजबन्धः)

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः ।
उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु संमतेः ॥६५॥

कुत इति—कुतः कस्मात् । एतः आगतः । नु वितर्के । सन् शोभनः । वर्णः रूपं दीप्तिस्तेजः । मेरोः मन्दरस्य । ते तव । अपि च किं ननु इत्यर्थः । संगतेः सङ्गमात् मेलापकात् । उत वितर्के । क्रीतः द्रव्येण गृहीतः । अथ आहोस्वित् । संकीर्णः वर्णसंकरः । गुरोः भर्तुः । अपि तु उताहो । सम्मतेः आज्ञायाः । किमुक्तं भवति—मेरोर्योऽयं सन् वर्णः स कुतः आगतः किं ते संगतेः उत क्रीतः अथ सङ्कीर्णः । अपि तु गुरोः संमतेः । ननु निश्चितोस्माभिस्तव संमतेः ॥६५॥

अर्थ—हे भगवन ! हम लोगोंको अब तक सन्देह था कि मेरु-पर्वतका ऐसा सुन्दररूप कहांसे आया ? क्या आपकी संगतिसे अथवा आपका वहां जन्माभिषेक होनेसे उसका वैसा सुन्दररूप होगया ? या मूल्य देकर खरीदा गया अथवा किसी अन्य सुन्दर वस्तुका रूप उसमें संकीर्ण कर दिया गया—मिला दिया गया ? परन्तु अब हमें निश्चय होगया कि मेरुका वह सुन्दररूप आपकी संमतिसे--आज्ञामात्रसे—होगया है, किसी दूसरी जगहसे नहीं आया है ।

भावार्थ—जिस मेरु पर्वतपर जिस बालकका अभिषेक होता है वह पर्वत सुवर्ण और रत्नोंकी कान्तिसे अत्यन्त मनोहर होता है । यहां आचार्यने भक्तिमें तल्लीन होकर बतलाया है कि मेरु-पर्वतका वह अत्यन्त सुन्दररूप भगवान् धर्मनाथकी संमतिसे ही हुआ था । हे प्रभो ! जब आपकी संमतिसे—आज्ञासे—एक अचेतन पदार्थ भी सद्वर्ण--सुवर्ण या उत्तम रूपको पा सकता है तब आपकी आज्ञासे—आपके सम्यग्ज्ञानसे अथवा आपके सम्यक मनन ध्यान या अनुभवनसे सचेतन प्राणी सद्वर्ण—उत्तमरूप

धारी, उच्चकुली अथवा उत्तम यशसहित हो जावे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि आप गुरु हैं—सर्वश्रेष्ठ, महान् या स्वामी हैं। अथवा आपकी संमतिसे सचेतन शिष्य सद्वर्णको—उत्कृष्ट अक्षरपरिज्ञानको—प्राप्त हो जायें तो क्या आश्चर्य है ? क्योंकि आप गुरु हैं—उपाध्याय हैं। गुरुकी संमतिसे शिष्यको क्या नहीं प्राप्त हो जाता ?

(अनन्तरपादमुरजः)

हृदि येन धृतोसीनः स दिव्यो न कुतो जनः ।
त्वयारूढो यतो मेरुः श्रिया रूढो मतो गुरुः ॥६६॥

हृदीति—हृदि हृदये। येन जनेन। धृतो विधृतः। असि भवसि। इनः स्वामी इति कृत्वा। सः पूर्वोक्तः प्रतिपादकः। दिव्यः पुण्यवान् कृतार्थ इत्यर्थः। न कुतः न कस्मात्। जनः भव्यलोकः। त्वया भट्टारकेण। आरूढः अधिष्ठितः। यतो यस्मात्। मेरुः गिरिराजः। श्रिया लक्ष्म्या। रूढः प्रख्यातः श्रीमान् जातः। मतः ज्ञातः। गुरुः महान्। एवं सम्बन्धः कर्त्तव्यः—हे भट्टारक त्वं येन जनेन हृदि धृतो भवसि इन इति कृत्वा स जनः कुतो न दिव्यः किन्तु दिव्य एव। यतो मेरुरपि त्वयारूढः सन् श्रिया रूढः मतः गुरुश्च मतः ॥६६॥

अर्थ—हे भगवन् ! जिस भव्य जीवने आपको स्वामी मान कर अपने हृदयमें धारण किया है वह पुण्यवान क्यों न होगा ? अवश्य होगा। क्योंकि मेरुपर्वत, आपके द्वारा अधिष्ठित होनेसे ही श्रीसम्पन्न और महान् होगया था।

भावार्थ—सुवर्ण और रत्नोंसे खचित होनेके कारण मेरुपर्वत श्रीमान्—लक्ष्मीसम्पन्न अथवा शोभासे युक्त—कहा जाता है और एक लाख योजन ऊँचा होनेके कारण गुरु—महान् कहा जाता है। यहां कविका विश्वास है कि मेरुपर्वतको जो असीम श्री—लक्ष्मी अथवा शोभा और महत्ता—प्राप्त हुई है वह आपके

ही अधिष्ठानसे हुई है। यदि आपका उसपर जन्माभिषेक न होता तो वह कभी भी इतना श्रीमान् और महान नहीं बन सकता। यहां मेरुपर्वतके उदाहरणसे यह बात ध्वनित की गई है कि जब आपके आश्रयसे अचेतन—पर्वत—भी श्रीसम्पन्न और महान् हो सकता है तब सचेतन—भक्तिभावसे परिप्लुत—भव्य प्राणी आपको हृदयमें धारणकर—आपका ध्यान-स्मरण कर—यदि दिव्य—पुण्यवान् इन्द्र अहमिन्द्र आदि—हो और क्रमसे अनन्तचतुष्टयरूप श्रीसे सम्पन्न होकर समस्त विश्वसे गुरु—श्रेष्ठ हो जावे तो क्या आश्चर्य है ? ॥६६॥

शान्ति-जिन-स्तुतिः

(मुरजः)

चक्रपाणेर्दिशामूढा भवतो गुणमन्दरम् ।
के क्रमेणेदृशा रूढाः स्तुवन्तो गुरुमक्षरम् ॥६७॥

चक्रेति—चक्रपाणेः चक्रवर्तिनः पूर्वराज्यावस्थाविशेषणमेतत्। दिशामूढा दिग्मूढा अविज्ञातदिशः। भवतः भट्टारकस्य। गुणमन्दरं गुणपर्वतम्। के किमो रूपम्। क्रमेण न्यायेन परिपाट्या। ईदृशा ईदृग्भूतेन। रूढाः प्रख्याताः। स्तुवन्तो वन्द्यमानाः। गुरुं महान्तम्। अक्षरं अनश्वरम्। किमुक्तं भवति—चक्रपाणेर्भवतः गुणमन्दरं ईदृशा क्रमेण मुरजबन्धश्चक्रवृत्तैः स्तुवन्तः रूढाः के नाम दिशामूढाः अपि तु न भवन्त्येव। किं विशिष्टं गुणमन्दरं गुरुं अक्षरम् ॥६७॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप चक्रवर्ती हैं—राज्य अवस्थामें आपने चक्ररत्न हाथमें लेकर षट्खण्ड भरत क्षेत्रकी दिग्विजय की थी। इस क्रमसे-मुरजबन्ध चक्रवृत्त आदि चित्रबद्ध स्तोत्रोंसे—आपके

अविनाशी और महान् गुणरूपी मेरुपर्वतकी स्तुति करनेवाले कौन प्रसिद्ध पुरुष दिशाभूल हुए हैं ? अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ—मेरुपर्वत हर एक जगहसे उत्तर दिशामें पड़ता है इसलिए जो मेरुपर्वतको प्रत्येक क्षण देखता रहता है वह कभी दिशा नहीं भूल सकता—वह मेरुको देखकर अपनी इष्ट-दिशाको पहुँच सकता है। यहां आचार्यने भगवान् शान्तिनाथ के गुणोंको मेरुपर्वतका रूपक दिया है। उससे यह अर्थ स्पष्ट होता हैं कि जो पुरुष भगवान् शान्तिनाथके गुणरूप मेरुपर्वतकी स्तुति करेगा वह संसारकी अन्य उलझनोंमें उलझ जानेपर भी अपने कर्त्तव्य-मार्गको नहीं भूलेगा। वह अपने सबसे उत्तर—सबसे श्रेष्ठ—मार्गको अनायास ही पा जावेगा। अब भी तो रास्ता भूल जानेपर मनुष्य किसी ऊँचे पहाड़ या पेड़ वगैरह को लक्ष्यकर अपने इष्ट स्थान पर पहुंचते हैं। ॥६७॥

(मुरजबन्धः)

त्रिलोकीमन्वशास्संगं हित्वा गामपि दीक्षितः ।
त्वं लोभमप्यशान्त्यंगं जित्वा श्रीमद्विदीशितः ॥६८॥

त्रिलोकीति—त्रिलोकी त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी "शादितिङीविधिः" तां त्रिलोकीम्। अन्वशाः अनुशास्तिस्म अनुशासितवान्। संगं परिग्रहम्। हित्वा त्यक्त्वा। गामपि पृथिवीमपि। दीक्षितः प्रव्रजितः। त्वं युष्मदोरूपम्। लोभमपि सङ्गतचित्तमपि। तृष्णामपि। अशान्त्यङ्गं अनु प्रशमनिमित्तम्। शान्तेः अङ्गं कारणं शान्त्यङ्गं न शान्त्यङ्गं अशान्त्यङ्गम्। जित्वा विजित्य। श्रीमद्विदीशितः लक्ष्मीमद्ज्ञानीश्वरः। विदामीशितः विदीशितः श्रीमांश्चासौ विदीशितश्च श्रीमद्विदीशितः। किमुक्तं भवति— हे शान्तिभट्टारक त्वं संगं हित्वा गामपि दीक्षितः सन् त्रिलोकीमन्वशाः लोभमपि अशान्त्यंगं जित्वा श्रीमद्विदीशितः सन् ॥६८॥

अर्थ—हे प्रभो ! यद्यपि आप समस्त परिग्रह और समस्त पृथिवीको छोड़कर दीक्षित हो गये थे—नग्न दिगम्बर हो जङ्गल-में जाकर तपस्या करने लगे थे—तथापि आपने तीनों लोकोंको अनुशासित किया था—लोकत्रयके समस्त प्राणी आपके उप-दिष्ट मार्ग पर चलते थे। इसके सिवाय आपने अशान्तिके कारणस्वरूप लोभको भी जीत लिया था फिर भी आप लक्ष्मीवान् और विद्यावानोंमें ईश्वर गिने जाते हैं।

भावार्थ—यहां आचार्यने 'अपि' शब्दसे विरोध प्रकट किया है। लोकमें देखाजाता है कि जो पृथिवीका मालिक होता है—धनधान्य-का स्वामी होता है—और सेना वगैरह अपने पास रखता है वही कुछ मनुष्योंपर—अपने आश्रित देशमें रहनेवाले लोगोंपर—शासनकर पाता है; परन्तु आपने शासन करनेके सब साधनोंको छोड़ देनेपर भी कुछ नहीं किन्तु तीनों लोकोंके लोगोंपर शासन किया है यह विरुद्ध बात है। यहां शासनका अर्थ मोक्षमार्गका उपदेश लेनेपर विरोधका परिहार होजाता है। इसी प्रकार जो लोभ और तृष्णासे सहित होता है वही धनधान्यादिक लक्ष्मीको अपने पास रखता है परन्तु आप लोभको जीतकर भी श्रीमान्—लक्ष्मीवानोंके ईश्वर--बने रहे यह विरुद्ध बात है,परन्तु श्रीमानका अर्थ अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित लेनेपर विरोधका परि-हार हो जाता है ॥ ६८ ॥

(मुरजबन्धः)

केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरम् ।
तव चांगं क्षमाभूपलीलाधाम शमाधरम् ॥६९॥

केवलेति—केवलं केवलज्ञानम्। अङ्गं शरीरम्। केवलमेव अङ्गं केवलाङ्गं केवलाङ्गेन समाश्लेषः सम्बन्धः आलिङ्गनं केवलाङ्गसमाश्लेषः

तस्य तेन तदेव वा बलं सामर्थ्यं केवलाङ्गसमाश्लेषबलं तेन आढ्यः परिपूर्णः केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्यः तस्य सम्बोधनं हे केवलाङ्गसमाश्लेष बलाढ्य। अथवा केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्यो महिमा केवलाङ्गसमाश्लेषब—लाढ्यमहिमा तां धरतीति अंगस्यैव विशेषणम्। महिमा माहात्म्यं महिमानं आधरतीति महिमाधरं माहात्म्यावस्थानम्। तव ते। च अवधारणेर्थे द्रष्टव्यः। अंग शरीरम्। क्षमैव भूषा यस्य तत् क्षमाभूषम्। लीलानां कमनीयानां धाम अवस्थानं लीलाधाम। क्षमाभूषं च तत् लीलाधाम च तत् क्षमाभूषलीलाधाम। शमस्य उपशमस्य आधरः गौरवं यस्मिन् तत् शमाधरम्। अङ्गमिति सम्बन्धः। समुच्चयार्थः—हे शान्तिभट्टारक केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरं तव चाङ्गं किं विशिष्टं क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम्। किमुक्तं भवति—तवैवाङ्गमीदृग्भूतं नान्यस्य। अतस्त्वमेव परमात्मा इत्युक्तंभवति॥ ६६॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप शरीरसे आलिङ्गित तथा अनन्त बलसे सहित हे शान्तिनाथ जिनेन्द्र! आपका यह परमौदारिक शरीर बड़ी महिमाको धारण करनेवाला है, क्षमारूप अलंकारसे अलंकृत है, सुन्दरताका स्थान है और शान्तिरूपता—सौम्यतारूप गौरवसे सहित है।

श्लोकमें जो 'च' शब्द आया है उसका अवधारण अर्थ है। इसलिये श्लोकका भाव होता है—कि हे भगवन्! ऐसा शरीर आपका ही है अन्यका नहीं है अतः आप ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। यहां यह याद रखना चाहिये कि भगवान् शान्तिनाथ 'कामदेव, पदवीके भी धारक थे॥ ६६॥

(मुरजबन्धः)

त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं योजनेऽधिष्ठिते[1] त्वया ।
भूयोऽन्तिकाः श्रितास्तेऽरं राजन्तेऽधिपते श्रिया ॥७०॥

त्रय इति—त्रयोलोकाः भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिमनुष्यतिर्यञ्चः । स्थिताः स्वैरं स्वेच्छया योजने मगव्यूतियोजनचतुष्टये । अधिष्ठिते अध्यासिते । त्वया युष्मदो भान्तस्य रूपम् । भूयः बाहुल्येन पुनरपि वा । अन्तिकाः समीपस्थाः । श्रिताः आश्रिताः । ते तव । अरं अत्यर्थम् । राजन्ते शोभन्ते । अधिपते परमात्मन् । श्रिया लक्ष्म्या । समुच्चयार्थः—हे भट्टारक त्वया अधिष्ठिते योजनमात्रे त्रयोलोकाः स्वैरं स्थिताः भूयोऽन्तिकाः श्रिताः सन्तः ते अधिपते श्रिया अरं राजन्ते ॥ ७० ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप जिस समवसरणमें विराजमान हुए थे उसका विस्तार यद्यपि साढ़े चार योजनमात्र था तथापि उसमें भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी कल्पवासी मनुष्य तिर्यञ्च आदि तीनों लोकोंके जीव बहुत ही स्वच्छन्दताके साथ बैठ जाते थे। और जो आपके समीप आकर आपका आश्रय लेते हैं—आपका ध्यान करते हैं—वे शीघ्र ही आप जैसी उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सुशोभित होते हैं—आपके समान परमात्मपदको पा लेते हैं ॥ ७० ॥

---

१ यद्यपि श्लोकमें 'योजने' यह सामान्य पद है तथापि 'द्वादशयोजनतस्ताः क्रमेण चार्द्धार्धयोजनन्यूनाः । तावद्यावन्नेमिश्चतुर्थभागोनिताः परतः' (समवसरण स्तोत्रे, विष्णुसेनः) आदि प्रसिद्ध उल्लेखोंसे साढ़े चार योजन अर्थ लेना चाहिये ।

(मुरजबन्धः)

परान् पातुस्तवार्धीशो बुधदेव भियोषिताः ।
दूराद्धातुमिवानीशो निधयोवज्ञयोज्झिताः ॥७१॥

परेति—परान् पातुः अन्यान् रक्षकस्य । तव ते । अधीशः स्वामिनः बुधानां पण्डितानां देवः परमात्मा बुधदेवः तस्य सम्बोधनं हे बुधदेव मन्यपरमात्मन् । भिया भयेन । उषिता स्थिताः 'वस् निवासे' इत्यस्य धोः क्तान्तस्य कृताजित्वस्य रूपम्' । दूरात् दूरेण हातुमिव त्यक्तुमिव । अनीशाः असमर्थाः निधयः निधानानि । अवज्ञयोज्झिताः अनादरेण त्यक्ताः । अस्य एवं सम्बन्धः कर्त्तव्यः—हे देवदेव परान् पातुः तवार्धीशः त्वया निधयोऽवज्ञया उज्झिताः भिया दूरेण उषिताः त्वा हातुमिव अनीशाः ॥७१॥

अर्थ—हे विद्वानोंके देव—सर्व श्रेष्ठ ज्ञाता—सर्वज्ञ ! आप अन्य समस्त प्राणियोंके रक्षक और स्वामी हैं । आपने जिन नौ निधियोंको तुच्छ समझकर अनादरके साथ छोड़ दिया था वे निधियां आपको छोड़नेके लिये असमर्थ होकर मानों भयसे ही दूर दूर निवास कर रही हैं ।

भावार्थ—भगवान् शान्तिनाथ तीर्थंकर और कामदेवपदके सिवाय चक्रवर्ती पदके भी धारक थे—राज्य-अवस्थामें वे ६ निधियों और १४ रत्नोंके स्वामी थे । जब वे संसारसे उदास होकर दीक्षा लेने लगे तब उन्होंने निधियों और रत्नोंको अत्यन्त तुच्छ समझकर अनादरके साथ छोड़ दिया था । तीर्थंकरके समवसरणमें जो गोपुर द्वार होते हैं उनके दोनों तरफ अष्ट मङ्गल द्रव्य और नौ निधियां रखी होती हैं । गोपुरद्वार भगवान्के सिंहासनसे काफी दूर होते हैं इसलिये उनके पास रखी हुई निधियां भी भगवान्से दूर कहलाईं । यहां आचार्य समन्तभद्र उत्प्रेक्षा करते हैं कि भगवान्ने जिन निधियोंको अनादरके

साथ छोड़ दिया था वे ही निधियां अन्य रक्षक न देखकर तथा भगवानको ही सबका (सबके साथ अपना भी) स्वामी समझकर मानों उन्हें नहीं छोड़ना चाहतीं परन्तु उनके द्वारा किये हुए अपमानको याद कर वे गोपुरके बाह्य द्वारपर ही सहम कर रुक गई जान पड़तीं थीं—वे भगवानके दिव्य तेजसे मानों डर गई थीं, इसलिये उनसे दूर ही निवास कर रही थीं। जो पदार्थ जिसकी रक्षामें बहुत समय तक रहा हो और उसके द्वारा उसका काफी उपकार भी हुआ हो यदि वह आदमी वैराग्यभावसे स्नेह घटानेके लिये उसे छोड़ देवे—उसकी रक्षा करना स्वीकार न करे, किन्तु बाद में वही पुरुष किन्हीं अन्य पदार्थोंकी रक्षा करना स्वीकार करले और उनकी रक्षा करने भी लगे—तो पहले छोड़ा हुआ पदार्थ विचार करेगा कि 'इस आदमीका हृदय अभी रक्षकत्वका भार लेनेसे विरक्त नहीं हुआ है। यदि सचमुचमें विरक्त हुआ होता तो मुझे छोड़ अन्य पदार्थोंकी रक्षा क्यों करने लगता'। इस तरह वह छोड़ा हुआ पदार्थ अपने रक्षकके हृदयमें अपने लिये गुंजाइश देखकर फिरसे उसके पास पहुंचता है परन्तु अपने साथ किये हुए उसके रूखे व्यवहारसे वह सहम जाता है। प्रकृतमें—शान्तिनाथस्वामीने दीक्षा कालमें उन नौ निधियोंको छोड़ा था जिनके बल बूतेपर उन्होंने अपना साम्राज्य षट्खण्ड भरतक्षेत्रमें विस्तृत किया था परन्तु इन्हें छोड़कर—इनकी रक्षा का भार त्यागकर—वे सर्वथा उस अनुरागसे रहित हो गये थे यह बात नहीं किन्तु अन्यकी—निधियोंसे अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंकी—रक्षा करने लगे थे (पक्षमें सब जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेशदेकर जन्ममरणकेदुःखोंसे बचाने लगे थे)। रक्षा ही नहीं करने लगे थे किन्तु रक्षाकी सामर्थ्यसे सहित भी थे इन दोनों बातोंको आचार्यने 'परान् पातुः' और 'अधीशः' इन विशेषणोंसे निर्दिष्ट किया है। नौ निधियां सोचतीं हैं कि "भगवान-

का राग यदि वास्तवमें घटा होता तो ये हमारे समान किसी अन्यके भी रक्षक न होते परन्तु ये अन्य समस्त प्राणियोंकी रक्षा कर रहे हैं और उसमें समर्थ भी हैं—हमारे रहते हुए भी ये अपने वैराग्यभावको सुस्थिर रख सकते हैं, क्योंकि बाह्य पदार्थ ही तो वैराग्यभावको लोपनेवाले नहीं है। हमारे सिवाय छत्रत्रय, चमर, सिंहासन, भामण्डल आदि विभूतियां भी तो इनके पास हैं, इन सबके रहते हुए भी इनके वैराग्यभावका लोप क्यों नहीं होता ? इससे स्पष्ट मालूम होता है कि ये हर एक तरहसे अधीश हैं—अपने भावोंके नियन्त्रण करनेमें समर्थ हैं। फिर हमें क्यों छोड़ा ? इनके सिवाय दूसरा और रक्षक भी नहीं है। यदि हम पुनः इनकी शरणमें जावें तो हमें ये अपनालेंगे, क्यों कि अभी इनके हृदयसे अनुराग नष्ट नहीं हुआ है" बस यही सोचकर और अपने लिये गुंजाइश देखकर निधियां समवसरण-में उनके पास पहुँचना चाहती हैं परन्तु ज्यों ही उन्हें पूर्वकृत अनादरका खयाल आजाता है—'फिर भी वही हाल न हो' ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है—त्यों ही वे गोपुरद्वार पर ठहर जाती हैं। कितनी गम्भीर है उत्प्रेक्षा और कविकी सूझ ! (अभी इनका अनुराग नष्ट नहीं हुआ है इत्यादि उद्धरणोंसे भगवानको सरागी मत समझलेना। क्योंकि उत्प्रेक्षालंकारके कारण वैसी कल्पना करनी पड़ी है। उत्प्रेक्षा हमेशा कल्पित होती है—उसमें सत्यांश नहीं होता)। समवसरणमें निधियोंका सद्भाव अन्य शास्त्रोंमें भी स्पष्ट है[1]। ॥७१॥

[1] बाह्याभ्यन्तरदेशे षट्त्रिंशद्गोपुराः सन्ति ।
द्वारोभयभागस्था मङ्गलनिधयः समस्तास्तु ॥५०॥
संघाटकभृङ्गारच्छत्राब्द-व्यजन-शुक्ति-चामर-कलशाः ।
मङ्गलमष्टविधं स्यादेकैकस्याष्टशतसंख्या ॥५१॥

(पादादियमकश्लोकः)

ममस्तपतिभावस्ते समस्तपति[1] तद्द्विषः[2] ।
[3]संगतोहीन भावेन संगतो हि न भास्वतः ॥७२॥

ममस्तेति—समस्तपतीति प्रथमपादे यद्वाक्यं तद्द्वितीयपादेपि पुनरुच्चारितं। संगतोहीनभेति तृतीयपादे यद्वाक्यं तच्चतुर्थपादेपि पुनरुच्चारितम् यतः ततः पादादियमकः।

समस्तानां निरवशेषाणां पतिभावः स्वामित्वं समस्तपतिभावः विश्वपतित्वम्। ते तव। ममः समानः। तपति सन्तापयति। तद्द्विषः तस्य समस्तपतिभावस्य द्विषः शत्रवः तद्द्विषः तान् तद्द्विषः तच्छत्रून्। हे संगतोहीन परिग्रहच्युत। भावेन स्वरूपेण। संगतः संश्लिष्टः। हि स्फुटम्। न प्रतिषेधे। भास्वतः दिनकरस्य। समुदायस्यार्थः—हे संगतोहीन समस्तपतिभावस्ते समोपि तथापि तपति तद्द्विषः यस्मात् ततः भास्वतो भावेन न संगतो हि स्फुटम् ॥७२॥

प्रत्येकं साष्टशतं ताः काल-महाकाल-पाण्डु-माणवशङ्खाः।
नैसर्प-पद्म-पिङ्गल-नानारत्नाश्च नवनिधयः ॥८२॥
ऋतुयोग्य-वस्तु-भाजन-धान्यायुध-तूर्य-हर्म्य-वस्त्राणि ।
आभरण-रत्ननिकरान् क्रमेण निधयः प्रयच्छन्ति ॥८३॥
—विष्णुसेनविरचितसमवसरणस्तोत्र ।

१ तपति प्रकाशते, विवक्षया धातोरकर्मकत्वम् ।

२ तस्य द्विषः तद्द्विषोऽन्धकारादयः सन्तीति शेषः । अथवा तस्य समस्तपतिभावस्य द्विषः शत्रवो—रागादयोऽन्धकारादयश्च तानिति द्वितीयान्तपाठपक्षे तपतेः सकर्मकत्वम्। ते भास्वतश्च समस्तपतिभावः समः सन् तद्द्विषस्तपति किन्तु त्वया निःशेषितास्ते, तस्य च सावशेषास्त इत्युपरितो योजनीयम् ।

३ 'संगतः—परिग्रहतः हीनो रहितस्तत्समुद्धौ।' 'संगतः+अहीनभावेन', 'संगतः हीनभावेन', 'संगतः+हि+इनभावेन' इति बहवोऽर्थाः ।

अर्थ—हे परिग्रहरहित भगवन्! यद्यपि समस्तपतिभाव-सर्वस्वामित्व आपमें और सूर्यमें समानरूपसे प्रकाशमान है—जिस तरह आप समस्त जगतके स्वामी हैं उसीतरह सूर्य भी समस्त जगत्का स्वामी है, फिर भी आप सूर्यके स्वरूपसे संगत नहीं हैं—सूर्य आपकी बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि आपने अपनेकर्मशत्रुओंको सर्वथा नष्ट कर दिया है इसलिये आप अहीनभावेन संगत—उत्कृष्टतासे सहित—हैं। परन्तु सूर्यके अन्धकार आदि शत्रु अब भी विद्यमान हैं—गुफा आदि तिरोहित स्थानों तथा रात्रिमें अब भी अन्धकार रहा आता है। इसलिये वह 'हीनभावेन संगतः'—अनुत्कृष्टतासे संगत है। सूर्य ज्योतिष्क-देवोंमें सबसे उत्कृष्ट-इन्द्र नहीं किन्तु प्रतीन्द्र है, इसलिये आप समस्त पतिभावकी अपेक्षा 'इनभावेन संगतः'—सूर्यके समान होनेपर भी शत्रु सद्भाव तथा हीनभावकी अपेक्षा उसके समान नहीं हैं।

भावार्थ—कई लोग कहा करते हैं कि समवसरणमें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी प्रभा कोटिसूर्यके समान होती है परन्तु आचार्य समन्तभद्रको उनका वह कहना पसन्द नहीं आया इसलिये उन्होंने उक्त व्यतिरेकसे सूर्य और भगवान् शान्तिनाथमें वैसादृश्य सिद्ध करनेका सफल प्रयत्न किया है ॥७२॥

(मुरजबन्धः)

नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः ।
श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्धया चावसंभृताः ॥७३॥

नयेति - नयाः नैगमादयः । सत्वाः अहि-नकुलादयः । ऋतवः प्रावृट् प्रभृतयः । नयाश्च सत्वाश्च ऋतवश्च नयसत्त्वर्तवः एते सर्वे परस्परं विरुद्धा । सर्वे समस्ताः । गवि पृथिव्याम् । न केवलमेते किन्तु अन्ये चापि ये विरुद्धाः असंगताः परस्परवैरिणः । श्रियः माहात्म्यात् । ते

तव । नु अत्यर्थे । अयुवन् संगच्छन्ते स्म । यु मिश्रणे इत्यस्य धोः लङ्-न्तस्य रूपम् । सर्वे विश्वे । दिव्यधर्या च दिवि स्वर्गे भवा दिव्या, दिव्या चासौ ऋद्धिश्च दिव्यर्द्धिः तया दिव्यधर्या देवकृतव्यापारेणेत्यर्थः । अवसंभृताः निष्पादिताः कृता इत्यर्थः । किमुक्तं भवति—हे शान्तिनाथ ते श्रियः तव माहात्म्यात् गवि पृथिव्यां नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे अन्ये चाप्य-संगताः एते सर्वे अत्यर्थं अयुवन् संगतीभूताः केचन पुनर्दिव्यधर्या च अवसंभृताः संगतीकृताः एतदेव तव माहात्म्यम् नान्यस्य ॥७३॥

अर्थ—हे प्रभो ! द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अथवा नैगमादिक नय, नेवला सर्प आदि प्राणी और वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतुएँ ये सब तथा इनके सिवाय और भी जो पृथिवीपर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं—परस्परमें कभी नहीं मिलते; वे सब आपके प्रभावसे—माहात्म्यसे—एक साथ संगत होगये थे—आपसके विरोधको भूल कर मिल गये थे । तथा कितने ही अन्य कार्य देवोंकी ऋद्धिसे निष्पन्न किये गये थे ।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक नय जिस वस्तुको नित्य बतलाता है पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को अनित्य बतलाता है । व्यवहार नय जिन कार्योंको धर्म बतलाकर उपादेय कहता है निश्चय नय उन्हीं कार्योंको अधर्म—आस्रवका कारण—बतलाकर हेय कहता है; इस प्रकार नयोंमें परस्पर विरोध रहता है परन्तु नयोंका यह विरोध उन्हींके पास रहता है जो कि एकान्तवादी हैं—एक नयको ही सब कुछ मानते हैं । जिनेन्द्रदेव स्याद्वादनयके प्ररूपक हैं वे विवक्षासे सब नयोंको मानते हैं इसलिये उनके सामने नयोंका विरोध दूर हो जाता है और वे मित्रकी तरह परस्परमें सापेक्ष रहकर संसारके कल्याणकारक पदार्थ होजाते हैं ।[1]

१ नित्यं तदेवेदमितिप्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥"

सर्प-नेवला, मूषक-मार्जार, गो-व्याघ्र आदि ऐसे जानवर हैं जिनका जन्मसे ही परस्पर वैर होता है वे आपसमें कभी नहीं मिलते। यदि कदाचित् मिलते भी हैं तो उनमें जो निर्बल होता है वह सबलके द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। परन्तु जिनेन्द्र देवका यह अतिशय होता है कि उनके पास रहनेवाले जन्तु परस्परका वैर भूल जाते हैं—वास्तवमें उनका शरीर इतना सौम्य शान्तिमय और आकर्षक होजाता है कि उनके पास विचरने वाले प्राणी आपसके वैरको छोड़कर परस्परमें प्रेम और प्रीतिसे विह्वल होजाते हैं इसलिये आचार्यने ठीक ही लिखा है कि आपके सामने परस्परके विरोधी जीव भी मिल जाते हैं।[1]

एक वर्षमें वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त और शिशर ये छह ऋतुएँ होती हैं। इनका समय क्रमसे चैत्र वैशाख, ज्येष्ठ आषाढ, श्रावण भाद्रपद, आश्विन कार्तिक, मार्गशीर्ष पौष, और माघ फाल्गुन, इसतरह दो-दो मासका निश्चित है। वर्षमें मास परिवर्तन क्रमशः होता है अतः ऋतुओंका परिवर्तन भी क्रमशः होता है। एक साथ न मिलनेके कारण ऋतुओंमें परस्पर विरोध कहलाता है; परन्तु जिनेन्द्रदेव जहां विराजमान होते हैं वहां छहों ऋतुएं एक साथ प्रकट हो जाती हैं—छहों ऋतुओंकी शोभा दृष्टिगत होने लगती है। इसलिये आचार्यने जो कहा

'य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥'
—स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्राचार्यः।

१ सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥

है कि परस्पर विरोधी ऋतुएं आपके माहात्म्यसे एक स्थानमें एक साथ प्रकट हो जाती हैं वह उचित ही है।

इनके सिवाय कुछ और अतिशय-चमत्कार भी जिनभक्त देवताओंके द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो ये हैं—अर्धमागधी भाषा, दिशाओंका निर्मल होना, आकाशका निर्मल होना, चलते समय भगवान्के चरणकमलोंके नीचे सुवर्ण-कमलोंकी रचना होना, आकाशमें जय-जय ध्वनि होना, मन्द-सुगन्धितपवनका चलना, सुगन्धमय जलकी वृष्टि होना, पृथिवीका कंटक-रहित होना, समस्त जीवोंका आनन्दमय होना, भगवान्के आगे धर्म-चक्रका चलना और छत्र चमर आदि मंगल द्रव्योंका साथ रहना।

श्लोकमें जो 'च' शब्द है उसको अवधारणार्थक माननेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि ऐसा माहात्म्य आपका ही है अतः सर्वतो महान् आप ही—आप जैसे ही—हैं अन्य नहीं ॥७३॥

(मुरजबन्धः)

तावदास्व त्वमारूढो भूरिभूतिपरंपरः ।
केवलं स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बरः ॥७४॥

तावदिति—तावत् तदः वत्वं तस्य कृतात्वस्य रूपम्। आस्व तिष्ठ । आस उपवेशने इत्यस्य धोर्लोडन्तस्य प्रयोगः। तावदास्वेति किमुक्तं भवति तिष्ठ तावत् ।त्वं युष्मदो रूपम्। आरूढः प्रख्यातः। भूरि-भूतिपरंपरः भूरयश्च ता भूतयश्च भूरिभूतयः तासां परंपरा यस्यासौ भूरि-भूतिपरंपरः बहुविभूतिनिवास इत्यर्थः। केवलं किन्तु इत्यर्थः। स्वयमा-रूढः स्वेनाध्यासितः। हरिः सिंहः। भाति शोभते। निरम्बरः वस्त्ररहितः। किमुक्तं भवति— हे भट्टारक त्वं तावदास्व भूरिभूतिपरंपरः निरम्बर इति कृत्वा यस्त्वारूढः ख्यातः सः किन्तु त्वयारूढः हरिरपि भाति त्वं पुनः शोभसे किमत्र चित्रम् ॥७४॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अन्तरङ्ग विभूति तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग विभूतिसे विभूषित हैं, साथमें निरम्बर भी हैं—वस्त्रशून्य हैं अर्थात् इतने निर्धन हैं कि आपके पास एक वस्त्र भी नहीं है। अतः आपको सुशोभित कहनेमें कुछ आश्चर्यसा मालूम होता है; परन्तु यह निश्चित है कि आप जिस प्रसिद्ध सिंहासनपर आरूढ—विराजमान—होते हैं वह अत्यन्त सुशोभित होने लगता है—सिंहासनकी शोभा आपके विराजमान होनेसे बढ़ती है अतः आपके सुशोभित होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है।

भावार्थ—'वह आदमी इतना निर्धन है कि उसके पास पहिननेको एक कपड़ा भी नहीं है' इन शब्दोंसे लोकमें निर्धनताकी सीमाका वर्णन किया जाता है। भगवान् शान्तिनाथके शरीर पर भी एक कपड़ा नहीं था इसलिये लौकिक दृष्टिसे उन्हें सम्पन्न कैसे कहा जावे ? परन्तु वे अनन्तचतुष्टयरूप सच्ची सम्पदा तथा प्रातिहार्यरूप देवरचित विभूतिसे विभूषित थे अतः उनको असम्पन्न भी कैसे कहा जावे ? इन दोनों विरुद्ध बातोंके रहते हुए भगवान् शान्तिनाथको सम्पन्न अथवा असम्पन्नका निर्णय देनेमें आचार्यको पहले कुछ अड़चनका सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उनकी दृष्टि सिंहासनपर पड़ती है और वे सोचते हैं कि यह सिंहासन सुवर्ण-निर्मित तथा रत्नजड़ित होनेपर भी जब भगवानसे रहित होता है तब इसकी सूर्यरहित उदयाचलकी तरह प्रायः कुछ भी शोभा नहीं होती। और सिंहासन जब भगवानसे अधिष्ठित होता है तब इसकी शोभा ठीक उसी तरह बढ़ जाती है जिस तरह कि शिखरपर अरुण दिनकर—बालसूर्यके आरूढ़ होनेपर उदयाचलकी बढ़

जाती है। इससे मालूम होता है कि यदि भगवान् स्वयं सम्पन्न या सुशोभित न होते तो उनके आश्रयसे सिंहासन सम्पन्न या सुशोभित कैसे होता ? तब इस प्रकार सोचनेसे तर्क प्रधान आचार्यको निर्णय हो जाता है कि वास्तवमें भगवान् शान्तिनाथ अत्यन्त शोभायमान अथवा सम्पन्न पुरुष हैं। यह सिंहासन-प्रतिहार्यका वर्णन है ॥७४॥

(मुरजबन्धः)

नागसे त इनाजेय कामोद्यन्महिमार्दिने ।
जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

नागेति—नागसे[1] अविद्यमानापराधाय । नञ् प्रतिरूपकोयमन्यो नकारस्ततो नञो निरयमनादेशो न भवति । ते तुभ्यम् । इन स्वामिन् । अजेय अजय्य । उद्यती चासौ महिमा च उद्यन्महिमा कामस्य स्मरस्य उद्यन्महिमा तामर्दयति हिंसयतीत्येवंशील: कामोद्यन्महिमार्दी तस्मै कामोद्यन्महिमार्दिने रागोद्रेकमाहात्म्यहिंसिने । जगत्त्रितयनाथाय जगतां त्रितयं जगत्त्रितयस्य नाथ: स्वामी जगत्त्रितयनाथ: तस्मै जगत्त्रितय-नाथाय त्रिभुवनाधिपतये नम: कि संज्ञकोयं शब्द: पूजावचन: । जन्म-प्रमाथिने जन्म संसार: तत् प्रमथ्नाति विनाशयतीति जन्मप्रमाथी तस्मै जन्मप्रमाथिने जन्मविनाशिने । समुदायार्थ:—हे शान्तिनाथ इन अजेय ते तुभ्यं नम: कथंभूताय तुभ्यं नागसे कामोद्यन्महिमार्दिने जगत्त्रितयनाथाय जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! हे अजेय ! आप अपराध-रहित हैं—निष्पाप है, कामकी बढ़ती हुई महिमाको नष्ट करनेवाले हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं और जन्ममरणरूप संसारको नष्ट करने वाले हैं, अत: हे शान्तिनाथ भगवन् ! आपको नमस्कार हो ॥७५॥

१ आग: पापं, न विद्यते आग: यास्यासौ नागा: तस्मै नागसे ।

(मुरजबन्धः श्लोकयमकालंकारश्च)

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मंदिमासिने ॥७६॥

रोगेति—श्लोकद्वितयम् । अयमेव श्लोको द्विवारः पठनीयो द्वेधा व्याख्येयश्चेति कृत्वा श्लोकयमक इति भावः ।

रोगाः व्याधयः पाताः पातकानि कुत्सिताचरणानि, रोगाश्च पाताश्च रोगपाताः तान् विनाशयतीति रोगपातविनाशः तस्मै रोगपातविनाशाय । बहुलवचनात् कर्त्तरि अङ् घञ् वा । तमः अज्ञानं तत् नुदतीति तमोनुत अज्ञानहन्तेत्यर्थः । महिमानं माहात्म्यं पूजां अयते गच्छत्येवंशीलः 'शीलार्थे णिन्' महिमायी । तमोनुच्चासौ महिमायी च तमोनुन्महिमायी तस्मै तमोनुन्महिमायिने । योगेन ध्यानेन शुभानुष्ठानेन ख्याताः प्रख्याताः योगख्याता योगख्याताश्च ते जनाश्च योगख्यातजनाः योगख्यातजनानां अर्चा पूजा सत्कारः यस्यासौ योगख्यातजनार्चः गणधरादिपूज्य इत्यर्थः । अथवा योगख्यातजनैरर्च्यः इति योगख्यातजनार्च्चः तस्मै योगख्यातजनार्चाय । श्रमः स्वेदः तं उच्छिनत्ति विदारयतीति श्रमोच्छिन् । मन्दिमा मृदुत्वं सर्वदयास्वरूपं तस्मिन् आस्ते इति मन्दिमासी । श्रमोच्छिच्चासौ मन्दिमासी च श्रमोच्छिन्मन्दिमासी तस्मै श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने । इन ते नमः इत्येतदनुवर्त्तते । ततः एवमभिसम्बन्धः कर्त्तव्यः—हे शान्तिभट्टारक इन स्वामिन् ते तुभ्यं नमोस्तु किं विशिष्टाय तुभ्यं रोगपातविनाशाय पुनरपि किं विशिष्टाय तमोनुन्महिमायिने पुनः योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७६॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप अनेक रोग तथा पापोंको नाश करने वाले हैं । आपने अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है । आपकी बड़ी महिमा है । योगियोंमें प्रसिद्ध गणधरादि देव आपकी पूजा करते हैं । आप खेद स्वेद आदि दोषोंको नष्ट करने

वाले हैं तथा अत्यन्त मृदुताको प्राप्त हैं—दयालु हैं—अतः आपको नमस्कार हो ॥७६॥

(मुरजबन्धः श्लोकयमकालंकारश्च)

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७७॥

रोगपेति—रोगः भंगः परिभवः तं पातयति घातयतीति 'कर्मण्यण्' रोगपातः । वि विनष्टः ध्वस्तः नाशः संसारपर्यायो यस्य देवविशेषस्यासौ विनाशः । रोगपातश्चासौ विनाशश्च रोगपातविनाशः तस्मै रोगपातविनाशाय । तमः तिमिरं अलोकाकाशं वा, कुतः—'अपोहः शब्दलिंगाभ्यां यतः' तमःशब्देन किमुच्यते आलोकाभावः कस्मिन् अत आह अलोकाकाशे, ततस्तमःशब्देन अलोकाकाशस्य ग्रहणम् । नुत् प्रेरणं अथवा चतुर्गतिनिमित्तं यत्कर्म्म तत् नुत् इत्युच्यते तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं भवति । महिः पृथिवीलोकः जीवादिद्रव्याणि इत्यर्थः इकारान्तोपि महिशब्दो[1] विद्यते । तमश्च नुच्च महिश्च तमोनुन्महयः ताः मिनाति परिच्छिनत्तीति तमोनुन्महिमायी तस्मै तमोनुन्महिमायिने। यः यदः वान्तस्य रूपम् । अगः पर्वतः ख्यातः प्रख्यातः प्रधानः,अगश्चासौ ख्यातश्च अगख्यातः मन्दर इत्यर्थः । जनानां इंद्रादीनां अर्चा पूजा जनार्चा, अगख्याते जनार्चा अगख्यातजनार्चा, तां अयते गच्छतीति अगख्यातजनार्च्चायः । श्रमः क्लेशः उच्छित् उच्छेदः विनाशः । मन्दिमा जाड्यं मूर्खत्वम्, श्रमश्च उच्छिच्च मन्दिमा च श्रमोच्छिन्नमन्दिमानः तान् अस्यति क्षिपतीति श्रमोच्छिन्नमन्दिमासी तस्मै श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने । किमुक्तं भवति—अगख्यातजनार्चायः यः सः त्वं हे शान्तिभट्टारक अतस्तुभ्यं नमोस्तु । किं विशिष्टाय तुभ्यं रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥ ७७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप पराभवको नष्ट करने वाले हैं—

---

1 महिः सर्वसहा मही इति वैजयन्ती ।

आपका कोई पराभव नहीं कर सकता अथवा आपने आत्माका पराभव करनेवाले कर्मसमूहको नष्ट करदिया है। आप नाशसे (मृत्युसे) रहित हैं, अलोकाकाश, चतुर्गतिभ्रमणके कारण कर्म-पुञ्ज, तथा षड्द्रव्यात्मक पृथिवीलोकको जाननेवाले हैं; इन्द्रादि-देवों द्वारा प्रसिद्ध मेरुपर्वतपर की हुई पूजाको प्राप्त हैं और क्लेश, विनाश तथा जड़ताको नष्ट करने वाले हैं, अतः आपको नमस्कार हो ॥ ७७ ॥

(मुरजबन्धः)

प्रयत्येमान् स्तवान् वश्मि[1] प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये ।
नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥ ७८ ॥

प्रयत्येति—प्रयत्य प्रयस्य प्रकृत्य । इमान् एतान् । स्तवान स्तुतीः । वश्मि वच्मि । कृशा तन्वी न कृशा अकृशा महती । अर्त्तिः पीडा अकृशा चासौ अर्त्तिश्च अकृशार्त्तिः । श्रान्ताः दुःखिताः । श्रान्तानां अकृशार्त्तिः श्रान्ताकृशार्त्तिः । प्रास्ता ध्वस्ता श्रान्ताकृशार्त्ति-र्येनासौ प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तिः तस्मै प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये । नयाश्च प्रमाणे च नयप्रमाणानि नयप्रमाणानां वाचः वचनानि नयप्रमाणवाचः । नयप्रमाणवाच एव रश्मयो गभस्तयः नयप्रमाणवाग्रश्मयः तैर्ध्वस्तं निरा-कृतं ध्वान्तं येनासौ नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्तः तस्मै नयप्रमाणवाग्र-श्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये षोडशतीर्थंकराय । किमुक्तं भवति—शान्तये इमान् स्तवान् प्रयत्य वच्म्यहम् । किं विशिष्टाय शान्तये प्रास्तश्रान्ताकृ-शार्त्तये नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्तायेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अर्थ—मैं प्रयत्नपूर्वक अनेक स्तोत्रोंको रचकर उन शान्ति-नाथ भगवानसे प्रार्थना करता हूँ—कुछ कहना चाहता हूं, जो कि दुःखी मनुष्योंकी बड़ी बड़ी पीड़ाओंको नष्ट करने वाले हैं।

---

१ 'वश कान्तौ' कान्तिरिच्छा ।

तथा जिन्होंने नय और प्रमाणोंके वचनरूप किरणोंसे लोगों-के अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कर दिया है ॥ ७८ ॥

(सर्वपादमध्ययमकः)

स्वसमान समानन्द्या भासमान स मानघ[1] ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥ ७९ ॥

स्वसेति—सर्वेषु पादेषु समानशब्दः पुनः पुनरुच्चारितो यतः । स्वेन आत्मना समानः सदृशः स्वसमानः नान्येनोपम इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं स्वसमान । समानन्द्याः क्रियापदम्, सं आङ् पूर्वस्य टुनदिस-मृद्धावित्यस्य धोः लङन्तस्य रूपम् । भासमान शोभमान सः इति तदः कृतात्त्वलत्वस्य रूपम् । मा अस्मदः इबन्तस्य प्रयोगः । अनघ न विद्यते अघं पापं यस्यासावनघः तस्य सम्बोधनं हे अनघ घातिचतुष्टयरहित । ध्वंसमानेन नश्यता समः समानः ध्वंसमानसमः नश्यत्समान इत्यर्थः । अनस्तः अविनष्टः त्रासः उद्वेगः भयं यस्य तदनस्तत्रासं, मनः एव मानसं स्वार्थिकः अण्, अनस्तत्रासं मानसं यस्यासावनस्तत्रासमानसः । ध्वंसमानसमश्चासौ अनस्तत्रासमानसश्च ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसः तं ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसम् । आनतं प्रणतम । समुदायार्थः—हे शान्तिभट्टारक स्वसमान भासमान अनघ परमार्थत्वेन ख्यातो यस्त्वं स मा समानन्द्याः किं विशिष्टं मा ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं आनतं महद्भक्त्या प्रणतम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—हे स्वसमान--अपने ही समान आप अर्थात् उपमासे रहित ! हे शोभमान ! हे निष्पाप ! शान्तिनाथ भगवन् ! आप मुझे समृद्धिसम्पन्न—ज्ञानदर्शनादिरूप आत्मसम्पत्तिसे पूर्णयुक्त कीजिये । मैं आपके चरणोंमें आनत हूं—मन-वचन-कायसे नम-स्कार करता हूं । मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नहीं हुआ

[1] 'मा+अनघ' इतिच्छेदः मा मामित्यर्थः ।

तथाऽपि नश्यमानके समान होरहा है—अतः मुझे अपने ही समान समृद्ध कीजिये।

भावार्थ—यहां 'अनन्वयालङ्कार' से भगवान् शान्तिनाथके लिये 'स्वसमान' सम्बुद्धि विशेषण दिया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हे भगवन्! आप अपने ही समान हैं—अनुपम हैं—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा आपको दी जा सके। दूसरोंको समृद्ध-सम्पन्न करनेमें आप अपना सानी (जोड़) नहीं रखते इसी लिये मैं आपके पास आया हूं। इसके सिवाय आप भासमान हैं—शोभायमान हैं—अपने कार्यमें समर्थ हैं तथा हर एक तरहसे निष्पाप हैं—द्वेष आदिसे रहित हैं। मेरे प्रति आपका कोई द्वेष नहीं है किन्तु निष्पाप होनेके कारण मेरे ऊपर आपके हृदयमें दयालुताका उत्पन्न होना ही स्वाभाविक है। मेरा चित्त संसारके दुःखोंसे उद्विग्न है। यद्यपि मेरे चित्तका त्रास अभी ध्वस्त नहीं हुआ फिर भी ध्वंसमान-के समान होरहा है, अतः उसके पूर्णतः ध्वस्त होनेमें सहायक हूजिये और इस तरह मुझ भक्तकी जो पूर्ण ज्ञानदर्शनादिरूप आत्मीय सम्पत्ति है उसे कृपया शीघ्र प्राप्त कराइये ॥७६॥

(मुरजबन्धः)

सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम्।
प्रोद्धर्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ॥ ८० ॥

सिद्ध इति—सिद्धः निष्ठितः कृतकृत्यः। त्वं भवान्। इह अस्मिन्। संस्थानं समानस्थानं सिद्धयोग्यस्थानं सिद्धमित्यर्थः। लोकाग्रं त्रिलोकमस्तकम्। अगमः गतः गमेर्लङन्तस्य रूपम्। सतां पण्डितानां भव्यलोकानाम्। प्रोद्धर्तुमिव उत्तारितुमिव। सन्तानं समूहम्। शोक एव अब्धिः समुद्रः शोकाब्धिः दुःखसमुद्र इत्यर्थः तस्मिन् शोकाब्धौ। मग्नाः प्रविष्टाः मंक्ष्यन्तः प्रवेक्ष्यन्तः मग्नाश्च

मंक्ष्यन्तश्च मग्नमंक्ष्यन्तः तेषां मग्नमंक्ष्यताम् प्राप्तशोकानामित्यर्थः ।
समुदायार्थः—हे शान्तिनाथ यः इह सिद्धः त्वं संस्थानं लोकाग्रं अगमः सतां मग्नमंक्ष्यतां सन्तानं प्रोद्धर्तुमिव । किमुक्तं भवति—भट्टारकस्य सिद्धिगमनं सकारणमेव 'परार्थे हि सतां प्रयत्नः ॥ ८० ॥

अर्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप इस लोकमें सिद्ध—कृतकृत्य—हो चुके थे तथापि आप लोकके अग्रभागरूप उत्तम स्थानपर—सिद्धशिलापर—जा विराजमान हुए अतः आपका यह वहां जाना ऐसा मालूम होता है मानों दुःखरूप समुद्रमें डूबे हुए अथवा आगे डूबनेवाले भव्य जीवोंके समूहको उससे उद्धृत करनेके लिये ही हो ।

भवार्थ—जैन शास्त्रोंमें किसी स्थानविशेषको मोक्ष नहीं माना है किन्तु आत्माकी सर्वकर्मरहित शुद्ध अवस्थाको ही मोक्ष माना हैं । जब आत्मासे सब कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है तब आत्मा एक समय मात्रमें त्रिलोकके ऊपर सिद्ध शिलापर पहुँच जाता है । आत्माकी इस अवस्थाको ही सिद्ध, मुक्त अथवा कृतकृत्य अवस्था कहते हैं । भगवान् शान्तिनाथ भी कर्मोंका क्षय होजानेसे इस मध्यम लोकमें ही सिद्ध होचुके थे फिर भी वे तथागति स्वभाव होनेसे त्रिलोकके ऊपर जाकर विराजमान हुए थे । यहां आचार्य समन्तभद्र उत्प्रेक्षालंकारसे वर्णन करते हैं कि भगवान् शान्तिनाथका तीन लोकके अग्रभागरूप उच्च स्थानपर जो विराजमान होना है वह मानों दुःखरूपी समुद्रमें डूबे हुए अथवा डूबनेवाले जीवोंके उद्धार करनेके लिये ही है । यह बात अब भी देखी जाती है कि कूप या तालाब वगैरहके ऊपर तट पर बैठा हुआ पुरुष ही उनमें पड़े हुए जीवोंको रस्सी वगैरह से निकालनेमें समर्थ होता है । स्वयं नीचे स्थानमें रहकर दूसरोंको नदी तालाब कुआ आदिसे नहीं निकाला जा सकता । श्लोकका सारांश यह है कि—भगवान शान्तिनाथको

मुक्त हुआ देखकर अन्य जीव भी अपने आपको मुक्तकरनेका प्रयत्न करते हैं ॥ ८० ॥

कुन्थु-जिन-स्तुतिः

(सर्वपादान्तयमकः)

कुन्थवे सुमृजाय ते नम्रयूनरुजायते ।
ना महीष्वनिजायते सिद्धये दिवि जायते ॥८१॥

कुन्थवे इति—सर्वपादान्तेषु जायते इति पुनः पुनरावर्त्तितं यतः । कुन्थवे कुंथुन्भट्टारकाय सप्तदशतीर्थकराय । सुमृजाय सुशुद्धाय । ते तुभ्यम् । नम्रः नमनशीलः विसर्जनीयस्ययत्वम्, ऊना विनष्टा रुजा व्याधिर्यस्य स ऊनरुजः ऊनरुज इव आत्मानमाचरतीति ऊनरुजायते । ना पुरुषः । महीषु पृथिवीषु । हे अनिज निश्चयेन जायते इति निजः न निजः अनिजः तस्य सम्बोधनं हे अनिज । अयते गच्छति । सिद्धये मोक्षाय गत्यर्थानामप् । दिवि स्वर्गे । जायते उत्पद्यते । णमु प्रह्वत्वे शब्दे इत्यस्य धोः प्रयोगे विकल्पेनाप् प्रभवति । वाक्यद्वयेन समुदायार्थः—हे अनिज ते तुभ्यं कुन्थवे सुमृजाय नम्रः ना पुरुषः इह लोकेषु ऊनरुजायते अयते सिद्धये दिवि स्वर्गे जायते ॥८१॥

अर्थ— हे अनिज ! हे जन्म-मरणरहित कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! आप अत्यन्त शुद्ध हैं । जो पुरुष आपको नमस्कार करता है वह पृथिवी-लोकमें सब तरहके रोगोंसे रहित होता है और परलोकमें मुक्तिको प्राप्त करता अथवा स्वर्गमें उत्पन्न होता है ॥८१॥

(मुरजबन्धः)

यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥

योलोके इति—यः कश्चित् । लोके भुवने । त्वा युष्मदः इबन्तस्य रूपम् । नतः प्रणतः । सः तदः बान्तस्य रूपम् । अतिहीनोपि अतिनिकृष्टोपि । अतिगुरुः महाप्रभुः भवति इत्यध्याहार्यम् । यतः यस्मात् । बालोपि अज्ञान्यपि मूर्खोपि । त्वा कुन्थुभट्टारकं । श्रितं श्रेयं आश्रयणीयम् । नौति स्तौति । को नो को न । नीतिपुरुः नीत्या बुद्ध्या पुरुः महान् । कुतः कस्मात् । संक्षेपार्थः—हे कुन्थुभट्टारक त्वाश्रितमिह लोके योतिहीनोपि नतः सोतिगुरुर्यतः ततः बालोपि त्वा को न नौति नीतिपुरुः पुनः कुतो न नौति किन्तु नौत्येव ॥८२॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सब जीवोंको आश्रय देनेमें समर्थ हैं । इस लोकमें जो पुरुष आपको नमस्कार करता है—सब प्रकारसे आपका आश्रय ले लेता है—वह अत्यन्त हीन—निकृष्ट अथवा नीच—होनेपर भी अतिगुरु अतीव श्रेष्ठ अथवा उच्च—हो जाता है । जब यह बात है तब हे प्रभो ! ऐसा कौन मूर्ख अथवा नीतिज्ञ (बुद्धिमान्) मनुष्य होगा जो आपको नमस्कार कर आपके आश्रय अथवा शरणमें आना न चाहेगा ? प्रायः कोई भी ऐसा नहीं हो सकता जो आपका यथार्थ परिचय पाकर भी आपकी शरणमें न आवे ।

भावार्थ—जिस कार्यका लाभ प्रत्यक्ष दीखता हो बुद्धिमान् मनुष्य उसे अवश्य ही करते हैं । यहां 'जो अतिहीन अथवा अतिनीच है वह अति महान् अथवा अत्यन्त उच्च कैसे हो सकता है ?' इस तरह विरोध प्रकट होता है । परन्तु महापुरुषों के आश्रयसे विरुद्ध दिखाई देनेवाली बात भी अनुकूल होजाती है अतः उस विरोधका परिहार हो जाता है । यह विरोधाभास अलंकार है ॥८२॥

(गतप्रत्यागतार्द्धभाग:)

नतयात विदामीश शमी दावितयातन ।
रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाजर[1] ॥८३॥

नतेति—गतप्रत्यागतार्द्ध इत्यर्थः । नतैः प्रणतैः यातः गम्यः नतयातः तस्य सम्बोधनं हे नतयात । विदां ज्ञानिनां ईश स्वामिन् । शमी उपशान्तः । दावितं उपतापितं यातनं दुःखं येनासौ दावितयातनः तस्य सम्बोधनं हे दावितयातन । रजसां पापानां अन्त विनाशक । सन् भवन् । देव परमात्मन् । त्वामहमित्यध्याहार्यः सामर्थ्यलब्धो वा । वन्दे स्तौमि । न विद्यते सन्तमसं अज्ञानं यस्यासौ असन्तमसः तस्य सम्बोधनं हे असन्तमस । अजर जातिजरामृतिरहित । किमुक्तं भवति—हे कुंथुस्वामिन् नतयात विदामीश दावितयातन रजसामन्त देव असन्तमस अजर शमी शान्तः सन् त्वां वन्देऽहमिति सम्बन्धः ॥८३॥

अर्थ—हे नम्र मनुष्योंके द्वारा प्राप्य—ज्ञातव्य ! हे ज्ञानियोंके स्वामी—केवलज्ञानी ! हे दुःखोंके दूर करनेवाले—अनन्तसुख सम्पन्न ! हे पापोंके विनाशक ! हे अज्ञानशून्य ! हे जरारहित कुन्थुनाथजिनेन्द्र ! मैं अत्यन्त शान्त होता हुआ आपको वन्दना करता हूँ—कषायोंको शान्त करता हुआ आपके आगे नतमस्तक होता हूँ ॥८३॥

(बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्ययमकातालुव्यञ्जनाऽवर्णस्वर-गूढद्वितीयपाद सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागताऽर्धभ्रमः[2])

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥८४॥

१ 'वन्दे+असन्तमस+अजर' इति सन्धिः ।

२ इसश्लोकमें 'अम' 'अव', 'रक्ष' इन अनेक क्रियाओंके होनेसे 'बहुक्रियापद', द्वितीयपदमें 'क्षमाक्ष-क्षमाक्ष' की आवृत्तिहोनेसे 'द्वितीय-

परेति—बहुक्रियापदद्वितीयपादमध्ययमकातालुव्यञ्जनावर्णस्वरगूढ-द्वितीयपादसर्वतोभद्रः । बहुक्रियापदानि—अम अव आरक्ष । द्वितीय पादे क्षमाक्ष इति मध्ये मध्ये आवर्त्तितम् । सर्वाणि अतालुव्यञ्जनानि । अवर्णस्वराः सर्वेपि नान्यः स्वरः । द्वितीयपादे यान्यक्षराणि तान्यन्येषु त्रिषु पादेषु सन्ति यतः ततो गूढद्वितीयपादः । सर्वैः प्रकारैः पाठः समान इति सर्वतोभद्रः ।

पारावारस्य समुद्रस्य रवो ध्वनिः पारावाररवः पारावाररवं इयर्त्ति गच्छतीति पारावाररवारः तस्य सम्बोधनं पारावाररवार समुद्रध्वनिसदृश-वाणीक । न विद्यते पारं अवसानं यस्याः सा अपारा अलब्धपर्यन्ता । क्षमां पृथिवीं अक्ष्णोति व्याप्नोतीति क्षमाक्षः ज्ञानव्याप्तसर्वमेयः तस्य सम्बोधनं हे क्षमाक्ष । क्षमा सहिष्णुता सामर्थ्यं वा । अक्षरा अविनश्वरा । वामानां पापानाम् । अमन खनक । अम प्रीणय । अव शोभस्व । आरक्ष पालय । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । हे ऋद्ध वृद्ध । ऋद्धं वृद्धम् । न क्षरतीत्यक्षरः तस्य सम्बोधनं हे अक्षर । समुदायार्थः—हे कुन्थु-नाथ, पारावाररवार, क्षमाक्ष, वामानाममन, ऋद्ध, अक्षर, ते क्षमा अक्षरा अपारा यतः ततः मा ऋद्धं अम अव आरक्ष । अतिभाक्तिकस्य वचनमेतत् ॥८४॥

अर्थ—हे प्रभो ! अपकी दिव्यध्वनि समुद्रकी गर्जनाके समान अत्यन्त गम्भीर है । आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं ।

पादमध्ययमक', तालुस्थानीय—इवर्ण चवर्ग य श अक्षरोंके न होनेसे 'अतालुव्यञ्जन', केवल अवर्णस्वरके होनेसे 'अवर्णस्वर', प्रथम तृतीय और चतुर्थपादमें द्वितीय पादके गुप्त होनेसे 'गूढद्वितीय-पाद,' सब ओरसे एक समान पढ़ेजानेके कारण 'सर्वतोभद्र,' क्रम और विपरीत क्रमसे पढ़े जानेके कारण 'गतप्रत्यागत' और अर्धभ्रमरूप होनेसे 'अर्धभ्रम'—इस प्रकार आठ तरहका चित्रालंकार है ।

पापोंके नाश करनेवाले हैं। ज्ञानादिगुणोंसे वृद्ध हैं। क्षय-रहित हैं। हे भगवन्! आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है। इसलिये आप मुझ वृद्धको भी प्रसन्न कीजिये, सुशोभित कीजिये तथा पालित कीजिये।

भावार्थ—यहां आचार्यने भगवान् कुंथुनाथसे तीन बातोंकी प्रार्थना की है कि आप मुझ वृद्धको प्रसन्न कीजिये—सुशोभित कीजिये और पालित कीजिये। उक्त तीन बातोंको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य बतलानेके लिये उन्होंने उसके अनुकूल ही विशेषण दिये हैं। यथा हे भगवन्! आपकी दिव्यध्वनि समुद्रकी ध्वनिके समान अत्यन्त सारगर्भित होती थी, जिसे सुनकर समस्त प्राणी आनन्द लाभ करते थे अतः आप मुझे भी अपनी दिव्यध्वनिसे प्रसन्न कीजिये। हे भगवान् आप सब पदार्थों को जाननेवाले हैं—आपकी आत्मा ज्ञानगुणसे अत्यन्त सुशोभित है अतः आप मुझे भी सुशोभित कीजिये—ज्ञानगुणसे अलंकृत कीजिये। हे भगवन्! आप वामों-दुष्टों अथवा पापोंको उखाड़कर नष्ट करनेवाले हैं—साधुपुरुषोंके रक्षक हैं—अतः मेरी भी रक्षा कीजिये—मुझे भी इन दुष्ट पापकर्मोंसे बचाइये। आप मेरे अपराधोंपर दृष्टिपात न कीजिये; क्योंकि आपकी क्षमा अपार है अथवा आपमें उक्त बातोंको पूर्णकरनेकी अपरिमित सामर्थ्य है। यहां आचार्यने अपने लिये 'ऋद्ध' विशेषण दिया है जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकारने वृद्ध किया है, इससे मालूम होता है कि—यह रचना आचार्य समन्तभद्रके वृद्धजीवन की है ॥८४॥

अर-जिन-स्तुतिः

(गतप्रत्यागतपादपादाभ्यासयमकाक्षरद्वयविरचितश्लोकः)

वीरावारर वारावी वरोरुरुरोरव ।
वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा ॥८५॥

वीरेति—पादे पादे यादृग्भूतः पाठः क्रमेण विपरीततोपि तादृग्भूत एव । प्रथमपादः पुनरावर्तितः । रेफवकारावेव वर्णौ नान्ये वर्णा यतः ।

विरूपा ईरा गतिः वीरा तां वारयति प्रच्छादयतीति कर्त्तरि क्विप् वीरावार् तस्य सम्बोधनं हे वीरावार् कुगतिनिवारण । अर अष्टादशतीर्थंकर । वारान् भाक्तिकान् अवति पालयतीत्येवंशील: वारावी भाक्तिकजनरक्षक इत्यर्थः । वरं इष्टफलं राति ददातीति वरर: वरद इत्यर्थः तस्य सम्बोधनं हे वरर । उरुर्महान् । उरोर्महत: महतोपि महान् भगवानित्यर्थः । अव रक्ष । हे वीर शूर । अवाररवेण अप्रतिहतवाण्या आरौति ध्वनयति भव्यान् प्रतिपादयतीत्येवंशील: अवाररवारावी अप्रतिहतवाण्या वदनशील: इत्यर्थः । कथमिव वारि व्यापि । वारि पानीयम् । वारि च तत् वारि च तत् वारिवारि वारिवारि राति ददातीति वारिवारिरा: तस्मिन् वारिवारिरि सर्वव्यापिनीरदे । वारि वा जलमिव । वा शब्द: इवार्थे द्रष्टव्य: । किमुक्तं भवति—हे अरतीर्थेश्वर वीरावार् वरर वीर वारावी त्वं उरोरपि उरु: त्वं तथा अवाररवारावी त्वं यथा वारिवारिरि वारि वा यतः ततः अव । सामान्यवचनमेतत् मा अत्र अन्यांश्च पालय ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे नरकादि कुगतियोंको निवारण करनेवाले ! हे भक्तपुरुषोंके रक्षक ! हे इष्टफलोंके देनेवाले ! हे शूरवीर ! हे अरनाथ स्वामिन् ! आप महान्से महान् हैं—सबसे बड़े हैं—श्रेष्ठ हैं और आपकी दिव्यध्वनि उस तरह सब जगह अप्रति-

हृत है—बेरोकटोक प्रचलित है जिस तरह कि समस्त आकाशमें व्याप्त होने वाले बादलोंमें जल रहता है। हे प्रभो ! आप मेरी तथा अन्य जीवोंकी रक्षा कीजिये ॥ ८५ ॥

(अनुलोमप्रतिलोमश्लोक:)

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

रक्षमेति—क्रमपाठेनैकश्लोक: विपरीतपाठेनाप्यपरश्लोकः । अर्थश्च भिन्न: ।

रक्ष पालय । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अक्षर अनश्वर । वामेश प्रधानस्वामिन् । शमी उपशान्तः त्वमिति सम्बन्धः । चारुरुचानुत: शोभनभक्तिना पुरुषेण प्रणुत: । भो विभो हे त्रैलोक्यगुरो । अनशन अनाहार अविनाश इति वा । अज परमात्मन उरवः महान्त: नम्रा: नमनशीला: यस्यासावुरुनम्र: तस्य सम्बोधनं हे उरुनम्र । इन स्वामिन् । विजरामय विगतवृद्धत्वव्याधे । किमुक्तं भवति—हे अर अक्षर वामेश शमी त्वं चारुरुचानुतः भो विभो अनशन अज उरुनम्र इन विजरामय मा रक्ष ॥ ८६ ॥

अर्थ—हे त्रिलोकपते ! अरनाथ ! आप विनाश-रहित हैं, इन्द्रोंके भी इन्द्र हैं, शान्तरूप हैं, बड़े-बड़े भक्त पुरुष आपकी स्तुति करते हैं, आप आहाररहित हैं, अज हैं, बड़े-बड़े पुरुष आपको नमस्कार करते हैं, आप सबके स्वामी हैं और बुढ़ापा तथा व्याधियोंसे रहित हैं अत: आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ ८६ ॥

(अनुलोमप्रतिलोमश्लोक: [1])

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

[1]—८६ नम्बरके श्लोकको विपरीतक्रमसे पढ़ने पर यह श्लोक बन

यमेति—यमराज व्रतस्वामिन् । यमैः राजते शोभते इति वा । विनम्राः विनमनशीलाः इनाः इन्द्रादयो यस्यासौ विनम्रेनः तस्य सम्बोधनं विनम्रेन । रुजोनाशन व्याधिविनाशक । भो विभो हे स्वामिन् । तनु कुरु विस्तारय वा । चारुरुचामीश शोभनदीप्तीनां प्रभो ! शमेव सुखमेव । आरक्ष पालय । मा अस्मदः इवन्तस्य रूपम् । अक्षर अविनाश । समुदायार्थः—हे अर यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो चारुरुचामीश शोभनदीप्तानां प्रभो अक्षर शमेव तनु मा आरक्ष । सुखमत्यर्थं कुरु मां पालयेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप व्रतोंके स्वामी हैं अथवा व्रतोंसे शोभायमान हैं,इन्द्र-अहमिन्द्र आदि भी आपको नमस्कार करते हैं, आप समस्त रोगोंको नष्ट करने वाले हैं, उत्तम शोभाके स्वामी हैं और अविनाशी हैं । हे नाथ ! मोक्ष-सुखको विस्तृत कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये ।

विशेष—यह श्लेक श्लेषालंकारसे सूर्यपक्षमें लग सकता है । यथा—'हे शनिग्रहरूप स्वपुत्रसे शोभायमान ! हे आकाश-नम्र—गगनसंचारिन् ! हे रोगापहारिन् ! हे गगनैकनाथ ! हे अखिल व्यवहारके देनेवाले ! हे सुन्दरकिरणोंके नायक ! हे अरनाथरूपी सूर्य ! सुखको विस्तृत करो और मुझे दुःखोंसे बचाओ ।* ॥ ८७ ॥

जाता है । अर्थ भी उससे विभिन्न रहता है । और इस श्लोकको उलट कर पढ़नेसे ८६ वाँ श्कलोक बनजाता है, इसीसे यह तथा ८६ नम्बरका श्लोक अनुलोम-प्रतिलोम कहलाता है ।

* सूर्य-पक्षमें संस्कृत टीका निम्न प्रकार होगी :—

हे इन हे सूर्य ! 'इनः पत्यौ नृपे सूर्ये,' इति विश्वलोचनः । अन्यानि सम्बोधनान्यस्यैव विशेषणानि । तथाहि—हे रुजोनाश । हे व्याधि-

(गतप्रत्यागतभागः)

नय मा स्वर्य वामेश शमेवार्य स्वमाय न ।
दमराजत्त वादेन[1] नदेवात्त जरामद ॥८८॥

नयेति—नय प्रापय । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । सु शोभनः अर्यः स्वामी[2] स्वर्यः तस्य सेम्बोधनं हे स्वर्य सुस्वामिन् । वामेश प्रधानेश । शमेव सुखमेव । आर्य साधो । सुष्ठु अमायः स्वमायः तस्य सम्बोधनं हे स्वमाय । न नत्वर्थे । अथवा आ समंतात् अर्यते गम्यते

विनाशक ! "शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्त-घोषान्, दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येकउल्लाघयन्यः । घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्तेर्दत्तार्घाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्" ॥ (मयूरकृत-सूर्यशतके सूर्यस्तुतिः) इत्यादौ सूर्यस्य रुजोविनाशकत्वं प्रसिद्धम् । हे नभो विभो ! नभसो गगनस्य विभुः स्वामी तत्सम्बुद्धौ । हे यमराज ! यमेन शनैश्चरग्रहेण स्वपुत्रेण राजते शोभते तत्सम्बुद्धौ । शनिः सूर्यस्य पुत्र इति ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धम् । 'यमोऽन्यलिङ्गो यमजे ना काके शमने श नौ, इति मेदिनी । हे विनम्र ! वौ आकाशे नम्रस्तत्सम्बुद्धौ 'विः स्वर्गाकाशयोः पुमान्'इति विश्वलोचनः । हे चारुरुचामीश ! सुन्दर किरणानां स्वामिन् । हे अक्षर ! अक्षान् व्यवहारान् रीति ददातीत्यक्षरस्तत्सम्बुद्धौ 'अक्षो ज्ञातार्थ-शकट–व्यवहारेषु पाशके' इति मेदिनी । हे उक्त विशेषण-विशिष्ट दिनकर ! शं--सुखं तनु--विस्तारय माम् आरक्ष चान्धतमसादिति शेषः । अथवा तनुचारुरुचाम्–शरीरसुन्दरशोभानाम्–इत्येकं पदम् । माक्षर मया लक्ष्म्या अक्षरोऽविनश्वरस्तत्सम्बुद्धावित्यप्येकं पदम् । शमेव--सुखमेव आरक्ष--आसमन्तात्' रक्षेति कर्तृकर्मसम्बन्धः । अत्र इन एव इन इति । श्लेषरूपकाश्रये चमत्कारातिशयो भवेदिति संक्षेपः ॥ ८७ ॥

1 दमराज+ऋतवाद+इन इति पदच्छेदः । 2 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः इत्यमरः' ।

परिच्छिद्यते यः सः आर्यः अर्यं इत्यर्थः, आर्यस्य स्वः आत्मा आर्यस्वः, तं मिमीते इति कर्त्तरि कः, आर्यस्वमं अयनं ज्ञानं यस्यासौ आर्यस्व-मायनः स्वस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः, तस्य सम्बोधनं हे आर्यस्वमायन। दमस्य इन्द्रियजयस्य राजा स्वामी दमराजः। टःसान्तः। अथवा दमेन राजत इति दमराजः तस्य सम्बोधनं हे दमराज। ऋतं सत्यं वादः कथनं यस्यासौ ऋतवादः तस्य सम्बोधनं हे ऋतवाद सत्यवाक्य। इन प्रभो भास्वन्। देवः क्रीड़ा[3], आर्त्तं पीडा, जरा वृद्धत्वं, मदः कामोद्रेकः। देवश्च आर्त्तं च जरा च मदश्च देवार्त्तजरामदाः न विद्यन्ते देवार्त्तजरा-मदाः यस्यासौ नदेवार्त्तजरामदः। नञ् प्रतिरूपकोयं झि संज्ञको नकारः अतः अनादेशो न भवति। तस्य सम्बोधनं हे नदेवार्त्तजरामद। एत-दुक्तं भवति—हे अरनाथ स्वयं वामेश आर्य स्वमाय आर्यस्वमायन वा दमराज ऋतवाद इन नदेवार्त्तजरामद ननु मा शमेव नय सुखमेव प्रापय। मां न दुःखमित्युक्तं भवति॥ ८८॥

अर्थ—हे उत्कृष्ट नायक! हे इन्द्रोंके इन्द्र! हे मायारहित। अथवा हे स्वपर-प्रकाशकज्ञानसंयुक्त! हे इन्द्रियदमनरूपसंयमसे शोभायमान! हे सत्यवादिन्--अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थोंका सत्य-स्वरूप बतलानेवाले! हे क्रीड़ा, पीड़ा बुढ़ापा तथा अहङ्कारसे रहित! अरनाथस्वामिन्! मुझे एकमात्र सुख-शान्तिको ही प्राप्त कराइये—संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर पूर्ण सुख-शान्ति प्रदान कीजिये॥८८॥

(यथेष्टैकाक्षरान्तरितमुरजबन्धः)

वीरं मा रक्ष रक्षार परश्रीरदर स्थिर।
धीरधीरजरः शूर वरसारर्द्धिरक्षर॥८९॥

वीरेति—इष्टपादेन चतुर्णां मध्ये र वर्णान्तरेण मुरजबन्धो निरूपयितव्यः।

३ देवनं देवः क्रीडेत्यर्थः।

वीरं शूरं । अथवा विरूपा ईरा गतिर्यस्यासौ वीरः । अथवा व्या इच्छाया ईरा...यस्यासौ वीरः तं वीरम् । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । रक्ष पालय । रक्षां क्षेमं राति ददाति रक्षारः तस्य सम्बोधनं हे रक्षार अभयद । परा श्रेष्ठा श्रीर्लक्ष्मीर्यस्यासौ परश्रीः त्वमिति सम्बन्धः। अदर अभय । स्थिर अचल । धीरधीः गम्भीरबुद्धिः अगाधधिषण इत्यर्थः। अजरः जरामरणरहितः । शूर वीर । वरा श्रेष्ठा सारा अनश्वरी ऋद्धिः विभूतिर्यस्यासौ वरसारर्द्धिः। अक्षर क्षयरहित । एतदुक्तं भवति—हे रक्षार परश्रीस्त्वं अदर धीरधीस्त्वं स्थिर अजरस्त्वं शूर वरसारर्द्धिस्त्वं अक्षर वीरं मा रक्ष ॥८९॥

अर्थ—हे अरनाथ ! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मीसहित हैं, निर्भय हैं, स्थिर हैं, अगाध-बुद्धिके के धारक हैं, जरामरणसे रहित हैं, शूरवीर हैं, श्रेष्ठ और अविनाशी ज्ञानादि-सम्पत्तिसे युक्त हैं तथा अक्षर हैं—विनाश-रहित हैं । अतः मेरी भी रक्षा कीजिये—मैं संसारपरिभ्रमणसे निवृत्त होना चाहता हूं ॥८॥

मल्लि-जिन-स्तुतिः

(अर्द्धभ्रमः)

आस यो नतजातीर्य्यां सदा मत्वा स्तुते कृती ।
यो महामतगोतेजा नत्वा मल्लिमितः स्तुत ॥९०॥

आसेति—आस अस्यतिस्म । यः यदो वान्तस्य रूपम् । नतस्य प्रणतस्य जातिः उत्पत्तिः नतजातिः नतजातेरीर्या प्राप्तिः नतजातीर्या तां नतजातीर्याम् । सदा सर्वकालम् । मत्वा ज्ञात्वा । अथवा क्तनिबन्तोयं प्रयोगः, मत्वा ज्ञातेत्यर्थः । स्तुते नुते पूजिते । कृती अनश्वरकीर्त्तिः तीर्थंकरकर्मा पुण्यवानित्यर्थः । यः यदो रूपम् । मतं आगमः, गौर्वाणी, तेजः केवलज्ञानं, द्वन्द्वः, महान्तः मतगोतेजांसि यस्यासौ महामतगो-

तेजाः। नत्वा स्तुत्वा तमिति सम्बन्धः। तं मल्लिं एकोनविंशतीर्थंकरम्। इतः प्राप्तः। अथवा इतः ऊर्ध्वं भरस्तुतेरूर्ध्वम्। स्तुत नुत। स्तु इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपं बहुवचनान्तम्। एतदुक्तं भवति—यः मल्लिः नतजातीर्यां आस सदा मत्वा स्तुते सति कृती यश्च महागतगो-तेजाः तं मल्लिनाथं नत्वा इतः स्तुत ॥६०॥

अर्थ—जिन्होंने भव्य-पुरुषोंके जन्म-मरण आदि रोग नष्ट कर दिये हैं, जो हर एक समय अनन्त पदार्थोंको जानते रहते हैं, जिनकी स्तुति करनेसे साधु पुरुष तीर्थंकर जैसे सातिशय पुण्य कर्मको प्राप्त हो जाते हैं तथा जिनका आगम दिव्य-ध्वनि और ज्ञान सबसे विशाल है ऐसे मल्लितीर्थंकरको प्राप्त होकर हे भव्यजनो! नमस्कारपूर्वक उनकी स्तुति करो ॥६०॥

मुनिसुव्रत-जिन-स्तुतिः

(निरौष्ठ्ययथेष्टैकाक्षरान्तारितमुरजबन्धो
गोमूत्रिका षोडशदलपद्मश्च)

ग्लानं चैनश्च नः स्येन [1]हानहीन घनं जिन।
अनन्तानशन[2] ज्ञानस्थानस्थाऽऽनत-नन्दन ॥९१॥

ग्लानमिति—ग्लानं च ग्लानिं च। एनश्च पापं च। नः अस्माकम्। स्य विनाशय। हे इन स्वामिन्। हानहीन क्षयरहित। घनं निबिडम्। जिन परमात्मन्। अनन्त अमेय अलब्धगुणपर्यन्त। अनशन अविनाश निराहार इति वा। ज्ञानस्थानस्थ केवलज्ञानधामस्थित। आनतनन्दन प्रणतजनवर्धन। उत्तरश्लोके मुनिसुव्रतग्रहणं तिष्ठति तेन सह सम्बन्धः।

१ स्य+इन इति पदच्छेदः। स्य इति 'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्य-धातोर्लोट् मध्यमपुरुषैकवचनैकरूपम्। २ नशनरहित अथवा अशनरहित।

हे मुनिसुव्रत इन हानहीन जिन अनन्त अनशन ज्ञानस्थानस्थ आनत-नन्दन ग्लानं च एनश्च नः स्य ॥९१॥

अर्थः—हे मुनिसुव्रत स्वामिन्! आप क्षयरहित हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, अनन्त हैं—अपरमित गुणांसे सुशोभित हैं, नाशरहित हैं अथवा आहार-रहित हैं, केवलज्ञान-रूप स्थानमें स्थित हैं और प्रणत पुरुषोंको बढ़ानेवाले हैं—समृद्ध करनेवाले हैं। हे प्रभो! हमारी भी यह ग्लानि और (रागादिरूप) पाप परिणति दूर कीजिये।

(अर्द्धभ्रमः)

पावनाजितगोतेजो वर नानाव्रताक्षते[1]।
नानाश्चर्य सुवीतागो जिनार्य मुनिसुव्रत[2] ॥९२॥

पावनेति—पावन पवित्र। गौश्च तेजश्च गोतेजसी, न जिते गोते-जसी वाणीज्ञाने यस्यासावजितगोतेजाः तस्य सम्बोधनं हे अजितगोतेजः। वर श्रेष्ठ। नानाव्रत नानानुष्ठान। छद्मस्थावस्थायामाचरणकथनमेतत्। अक्षते अक्षय। नानाभूतानि आश्चर्याणि ऋद्धयः प्रातिहार्याणि वा यस्यासौ नानाश्चर्यः, तस्य संबोधनं हे नानाश्चर्य। सुष्ठु वीतं विनिष्ट आगः पापं अपराधो यस्यासौ सुवीतागाः तस्य संबोधनं हे सुवीतागः जिन जिनेन्द्र। आर्य स्वामिन्। मुनिसुव्रत विंशतितमतीर्थकर। अति-क्रान्तेन क्रियापदेन स्य इत्यनेन सह सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—हे पावन अजितगोतेजः वर नानाव्रत अक्षते नानाश्चर्य सुवीतागः जिन आर्य मुनिसुव्रत नः अस्माकं ग्लानं एनश्च स्य विनाशय ॥९२॥

अर्थ—हे भगवन्! आप परम पवित्र हैं—राग आदि दोषोंसे रहित हैं, आपकी दिव्यध्वनि और आपका केवलज्ञान-

---

१ अक्षते! अक्षति शब्दस्य सम्बोधने रूपम्।

२ नो ग्लानिमेनश्च स्य विनाशय इति पूर्वश्लोकेन साकमन्वयः।

रूपी तेज अजय है—इन्हें कोई नहीं जीत सकता। आप अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, आपने छद्मस्थ अवस्थामें—केवलज्ञान प्राप्त होनेके पहले—अनेक व्रतोंको धारण किया था, आप क्षय-रहित हैं, अनेक आश्चर्य-सहित हैं—ऋद्धियों और प्रातिहार्योंसे युक्त हैं—आपके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, आप जिनेन्द्र हैं तथा सबके स्वामी हैं। हे मुनिसुव्रत भगवन्! हमारी भी सांसारिक ग्लानि और पापपरिणतिको नष्ट कर दीजिये।

यहां क्रियादिका सम्बन्ध पूर्व श्लोकके साथ है ॥९२॥

———

नमि-जिन-स्तुतिः

(गतप्रत्यागतपादयमकाक्षरद्वयविरचितसन्निवेशविशेष-समुद्गतानुलोमप्रतिलोमश्लोकयुगलश्लोकः)

नमेमान नमामेनमानमाननमानमा[1]—
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥९३॥

नमेति—गतप्रत्यागतपादयमको नकारमकाराक्षरद्वयविरचितश्लोकद्वयं श्लोकयुगलमित्यर्थः। अन्यद्विशेषणं मुखशोभनार्थम्।

हे नमे एकविंशतितीर्थंकर। अमान अपरिमेय। नमाम प्रणमाम स्वामित्यध्याहार्यमर्थसामर्थ्याद्वा लभ्यम्। इनं स्वामिनम्। आनानां प्राणिनां माननं प्रबोधकं मानं विज्ञानं यस्यासौ आनमाननमानः तं आनमाननमानं भव्यप्राणिप्रबोधकविज्ञानमित्यर्थः। आन इति अन श्वस प्राणने इत्यस्य धोः घञन्तस्य रूपम्। माननमिति मन ज्ञाने इत्यस्य धोः णिना युडन्तस्य रूपम्। आमनामः आ समन्तात् चिन्तयामः। मन अभ्यासे इत्यस्य धोः लडन्तस्य रूपम्। अनु पश्चात् नुमः वन्दामहे।

---

[1] अमनामः इति पदच्छेदः। अत्र द्वितीयपादस्य तृतीयपादेन सह सन्धिसम्बन्धः यश्च प्रायोऽन्यात्राऽप्रसिद्धः।

अनामनं अ-नमनप्रयोजकं मनः चित्तं यस्यासौ अनामनमना: तस्य सम्बोधनं हे अनामनमनः बलात्कारेण न परान्नामयतीत्यर्थः, अनेन वीतरागत्वं ख्यापितं भवति। अथवा नामनानि नमनशीलानि मनांसि चित्तानि यस्माद् भवन्ति असौ नामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः। अथवा नामनं स्तुतिनिमित्तं मनः चित्तं यस्मादसौ नामनमनाः तस्य सम्बोधनं हे नामनमनः। अमम हे अमोह। नः अस्मान्। मन अभ्यासय चिन्तय इत्यर्थः 'मन अभ्यासे इत्यस्य धोः लोडन्तस्य रूपम्'। एतदुक्तं भवति—हे नमे अमान अमम अनामनमनः त्वां इनं मान-माननमानं आमनामः नमाम अनु नुमः यस्मात्तस्मात् नः अस्मान् मन चिन्तय ॥९३॥

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियोंके द्वारा आपका वास्तविक रूप नहीं समझाजाता। आप सबके स्वामी हैं। आपका ज्ञान सब जीवोंको प्रबोध करने-वाला है। आप किसीसे उसकी इच्छाके विरुद्ध नमस्कार नहीं कराते। आप वीतराग हैं और मोह-रहित हैं अतः आपको सदा काल नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ आपकी स्तुति करता हूँ। प्रभो ! मेरा—मुझ शर-णागतका—भी सदा ध्यान रखिये—मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी तथा मोह-रहित होना चाहता हूँ॥ ९३ ॥

न मे माननमामेन मानमाननमानमा—
मनामो नु नु मोनामनमनोम मनोमन ॥ ९४ ॥

नमेमेति—न प्रतिषेधवचनम्। मे मम। माननं पूजनं प्रभुत्वं स्वातन्त्र्यमित्यर्थः। आमेन रोगेण संसारदुःखेन कर्मणा इत्यर्थः। किंवि-शिष्टेनामेन मानमा मानं ज्ञानं मिनाति हिंसयतीति मानमाः तेन मानमा। अननं प्राणनं जीवनं मिनाति हिंसयतीति माननमाः तेन अन-नमा। आ समन्तात् नमन्तीत्यानमाः स्तुतेः कर्त्तारः। आनमानां अमनं

रोगः व्याधिः आनमामवं तत् अमति रुजति भनक्तीति 'कर्मण्यण्' आनमामनामः त्वमिति सम्बन्धः। नु वितर्के। अन्योपि नु वितर्के। मा लक्ष्मीः तया ऊनाः रहिताः मोनाः मोनानां आमः रोगः मोनामः तं नामयतीति मोनामनमनः त्वमिति सम्बन्धः। अम गच्छ। मे इत्य-ध्याहार्यः। मनः चित्तम्। अमन कान्त कमनीय। एतदुक्तं भवति—आनमामनामो नु त्वं यस्मात् मोनामनमनो नु यस्मात् त्वं तस्मात् हे नमे अमन मे मनः अम गच्छ यस्मात् मे मम माननं नास्ति आमेन कि विशिष्टेन मानमा पुनरपि अननमा॥ ६४॥

अर्थ—प्रभो! जो आपको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता है आप उसके सब रोग नष्ट कर देते हैं तथा जो ज्ञानादिलक्ष्मीसे रहित हैं – वस्तुतः निर्धन हैं—उनके भी समस्त सांसारिक रोगोंको नष्टकर देते हैं। इसके सिवाय आप अत्यन्त सुन्दर हैं। हे नमिजिन! ज्ञान गुणको घातनेवाले तथा जीवके शुद्ध स्वरूपको नष्ट करनेवाले इन कर्मरूपी रोगोंने मेरा समस्त प्रभुत्व अथवा स्वातन्त्र्य हर लिया है अतः आप मेरे हृदय-मन्दिरमें प्रवेश कीजिये, जिससे कि मेरी स्वतन्त्रता मुझे प्राप्त हो सके।

भावार्थ–यहां आचार्य समन्तभद्रने भगवान् नमिनाथकी स्तुति करते हुए कहा है कि आप भक्तपुरुषोंके समस्त रोग–दुःख नष्ट कर देते है तथा दरिद्र मनुष्योंके भी आप अत्यन्त हितैषी हैं—उनके भी दारिद्र्यजनित समस्त रोग-दुःख नष्ट करदेते हैं। हे प्रभो! मेरे पीछे भी यह दुःखदायी संसाररूपी रोग पड़ा हुआ है इसने मेरी सर्व स्वतन्त्रताको हर लिया है। मेरी केवलज्ञानादि सम्पत्ति भी इसके द्वारा हरली गई है अतः मैं एक तरहसे दरिद्र तथा असमर्थ हो रहा हूं अतः आप मेरे हृदयमें प्रवेशकर मेरे सब रोगोंको दूर कर दीजिये। जिसमें रोग दूर करनेकी सामर्थ्य होती है उसीसे तो प्रार्थना की जाती है। श्लोकका सार आशय यह है कि आपका ध्यान करनेसे जीवोंके समस्त सांसा-

रिक रोग दूर हो जाते हैं, फलतः वे जीव सर्वथा नीरोग हो कर मुक्त हो जाते हैं और सदाके लिये अपने स्वाधीन सुखके उपभोक्ता बन जाते हैं ॥९४॥

(अनुलोमप्रतिलोमसकलश्लोकगतप्रत्यागतार्द्धः)

नर्दयाभर्त्तवागोद्य द्य गोवार्त्तभयार्दन ।
तमिता नयजेतानुनुताजेय नतामित ॥९५॥

नर्दयेति—गतप्रत्यागतार्धं इत्यर्थः । हे नः पूज्यपुरुष । दया एव आभा रूपं यस्यासौ दयाभः तस्य सम्बोधनं हे दयाभ दयारूप । ऋता सत्या वाक् वाणी ऋतवाक् सत्यवचनम्, आ समन्तात् उद्यत इत्योद्यम्, ऋतवाचा सत्यवाण्या ओद्यं आकारं यस्यासौ ऋतवागोद्यः तस्य सम्बोधनं हे ऋतवागोद्य । द्य खण्डय । गौर्वाणी, वार्त्तैव वार्त्तं, गोः वार्त्तं गोवार्त्तं वचनवार्ता । भयानां अर्दनः विनाशकः भयार्दनः । गोवार्त्तेन भयार्दनः गोवार्त्तभयार्दनः अथवा गोवार्त्तेन भयार्दनं यस्मादसौ गोवार्त्तभयार्दनः तस्य सम्बोधनं हे गोवार्त्तभयार्दन वचनवार्त्तया भयविनाशक तमिताः खेदरूपाणि दुःखानीत्यर्थः । नयैर्जयनशीलः नयजेता त्वमिति सम्बन्धः । हे अनुनुत सुपूजित इत्यर्थः । अजेय अपराजेय अजय्य इत्यर्थः । नताः प्रणताः अमिता अपरिमिताः इन्द्रादयो यस्यासौ नतामितः तस्य सम्बोधनं हे नतामित । एतदुक्तं भवति—हे नः, दयाभ, ऋतवागोद्य, गोवार्त्तभयार्दन अनुनुत अजेय नतामित नयजेता त्वं यतस्ततस्त्वं तमिताः दुःखानि द्य खण्डय । अस्माकं अनुक्तमपि लभ्यते ॥९५॥

अर्थ—हे नमिनाथ ! आप पूज्य हैं, दयास्वरूप हैं अथवा दयासे शोभायमान हैं, अनेकान्तरूप सत्यवाणीके द्वारा ही आपका स्वरूप जाना जाता है । आपके उपदेशकी चर्चा मात्रसे समस्त भय नष्ट हो जाते हैं । आपने अनेकान्तके--परस्पर सापेक्षनय वादके--द्वारा समस्त जगत्को जीत लिया है । आपकी सब स्तुति

करते हैं। विश्वको कोई भी शक्ति आपको नहीं जीत सकती—आप अजेय हैं, इन्द्र नरेन्द्र आदि असंख्यात जीव आपको नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! मेरे जन्ममरणके दुःखोंको दूर कीजिये ॥९५॥

(अनुलोमप्रतिलोम-गतप्रत्यागतश्लोकः)

हतभीः स्वय मेध्याशु[1] शं ते दातः श्रिया तनु।
नुतया श्रित दान्तेश शुद्ध्यामेय स्वभीत ह[2] ॥९६॥

हतेति—गतप्रत्यागतैकश्लोक इत्यर्थः। हतभीः विनष्टभयः त्वं। स्वयः शोभनः अयो यस्यासौ स्वयः तस्य सम्बोधनं स्वय। मेध्य पूत। आशु शीघ्रम्। शं सुखम्। ते तव। दातः दानशीलः। श्रिया लक्ष्म्या। तनु कुरु देहि वितर विस्तारय इति पर्यायाः। नुतया पूजितया। श्रित सेव्ये। दान्तेश मुनीश। शुद्ध्या केवलज्ञानेन। अमेय अपरिमेय। सुष्ठु अभीतः स्वभीतः तस्य सम्बोधनं स्वभीत अनन्तवीर्य ह स्फुटार्थकः। समुदायार्थः—हे नमे यतः त्वं हतभीः स्वय मेध्य दातः श्रिया नुतया श्रित दान्तेश शुद्ध्यामेय स्वभीत ते तव यत् शं सुखं तत् तनु कुरु देहि ह स्फुटम् ॥९६॥

अर्थ—हे नमिनाथ! आप भयरहित हो, महापुण्यवान्हो—तीर्थंकरनामकर्म-जैसी पुण्यप्रकृतिके उदयसे युक्त हो, पवित्रहो, दानशीलहो, अत्यन्तउत्कृष्ट अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सेवित हो, मुनियोंके स्वामी हो, केवलज्ञानरूपी शुद्धिसे अमेय हो—आपका केवलज्ञान मानरहित है—अनन्त है। और आप अनन्तवीर्यसे सहित हैं यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। हे प्रभो! आपमें जो अनन्त आत्मीय सुख है वह मुझे भी शीघ्र दीजिये ॥९६॥

---

1 मेध्य+आशु इति सन्धिः। 2 ह इत्यव्ययं स्फुटार्थकम्।

नेमि-जिन-स्तुतिः

(द्व्यक्षरश्लोकः)

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।
मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन् ॥९७॥

मानोनेति—मकारनकाराक्षरैर्विरचितो यतः । मानोनानां गर्व-हानानां । अनूनानां अहीनानां चारित्रसम्पूर्णानामित्यर्थः । मुनीनां साधूनां । मानिनां पूजितानां । इनं स्वामिनं । मनूनां ज्ञानिनां । मनु शब्दोऽयं मन ज्ञाने इत्यस्य धोः औणादिकत्यान्तस्य रूपम् । अनुनौमि सुष्ठु स्तौमि । इमं प्रत्यक्षवचनं । नेमिनामानं अरिष्टनेमिनाथम् । आन-मन् प्रणमन् । अहमिति संबन्धः । समुदायार्थः—इमं नेमिनामानं किं विशिष्टं इनं स्वामिनं केषां नुनानां किं विशिष्टानां मानोनानाम् अनू-नानां मानिनां मनूनां आनमन्नहं अनुनौमि ॥९७॥

अर्थ—मैं (समन्तभद्र) अहंकार-रहित, उत्कृष्ट एवं सम्पूर्ण चारित्रके धारक, पूज्य और ज्ञानवान् मुनियोंके स्वामी भगवान् नेमिनाथको मन-वचन-कायसे पुनः पुनः नमस्कार करता हुआ उनकी निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥९७॥

(अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः)

तनुतात्सद्यशोमेय शमेवार्य्यवरो गुरु ।
रुगुरो वर्य्य वामेश यमेशोद्यत्सतानुत ॥९८॥

तनुतादिति--गतप्रत्यागत इत्यर्थः । तनुतात् कुरुतात् सद्यशः शोभन-कीर्ते । अमेय अपरिमेय । शमेव सुखमेव । आर्याणां प्रधानानां वरः श्रेष्ठः आर्यवरः त्वमिति सम्बन्धः । गुरु महत् सुखेन सम्बन्धः । रुचा दीप्त्या उरुः महान् रुगुरुः तस्य सम्बोधनं हे रुगुरो दीप्त्या महत् । वर्य प्रधान । वामेश शोभनेश । यमेश व्रतस्वामिन् । उद्यत्सतानुत उद्योगवता पण्डितजनेन नुत स्तुत । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे नेमिनाथ सद्यशः

क्षमेय स्तुरो वर्यं वामेश यमेश उद्यस्सता नुत आर्यवरस्त्वं गुरु शमेव तनुतात् ॥६८॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका यश अत्यन्त निर्मल है, आप अल्पज्ञानियोंके ज्ञानके अगोचर हैं—अल्पज्ञानी आपके वास्तविक रूपको नहीं समझ पाते, आप आर्य पुरुषोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, इन्द्र अहमिन्द्र आदि प्रधानजनोंके भी स्वामी हैं, व्रतियों—मुनियोंके नाथ हैं और बड़े-बड़े उत्कृष्ट पंडितजन भी आपकी स्तुति करते हैं। हे प्रभो ! मुझे वह सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप सुख ही प्रदान कीजिये जिसके आप नायक हैं—अन्य वैषयिक सुखकी मुझे इच्छा नहीं है ॥६८॥

पार्श्व-जिन-स्तुतिः

(मुरजबन्धः)

जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भर्तुः पदद्वयम् ।
क्षयं दुस्तरपापस्य क्षमं कर्तुं ददज्जयम् ॥९९॥

जयेति—जयतः जयं कुर्वतः । तव ते । पार्श्वस्य त्रयोविंशतितीर्थकरस्य । श्रीमत् लक्ष्मीमत् । भर्तुः भट्टारकस्य स्वामिनः । पदद्वयं पदयुगलम् । क्षयं विनाशम् । दुस्तरपापस्य अतिगहनपापस्य । क्षमं समर्थम् । कर्तुं विधातुम् । ददज्जयं विधद्द्विजयम् । समुदायार्थः—जयतस्तव पार्श्वस्य भर्तुः पदद्वयं श्रीमत् ददत् जयं दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं क्षमम् उत्तर श्लोकेन सम्बन्धः ॥९९॥

अर्थ—हे प्रभो पार्श्वनाथ ! आप कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, सबके स्वामी हैं। आपके चरणकमल अत्यन्त शोभायमान हैं, सर्वत्र विजयके देनेवाले हैं और कठिनसे कठिन पापोंका

क्षय करनेके लिये समर्थ हैं। हे भगवन्! आपके चरणकमल हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करें[1] ॥९९॥

(गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धः)

तमोत्तु ममतातीत ममोत्तममतामृत
ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥ १०० ॥

तमोत्तमेति—तव पार्श्वस्य इत्येतद्द्वयमनुवर्तते। तमोत्तु तमो भक्षयतु अज्ञानं निराकरोत्वित्यर्थः। ममतातीत ममत्वातिक्रान्त। मम आत्मनः अस्मदः नान्तस्य रूपं। उत्तमं प्रधानं मतामृतं आगमामृतं यस्यासौ उत्तममतामृतः, तस्य संबोधनं हे उत्तममतामृत प्रधानागमामृत। तता विशाला अमिता अपरिमिता मतिर्ज्ञानं यस्यासौ ततामितमतिः तस्य सम्बोधनं हे ततामितमते विशालापरिमितज्ञान। तात इति मतः तातमतः श्रेण्याधिकृतैरिति सविधिः, तात इति औणादिकः प्रयोगः तस्य सम्बोधनं हे तातमत। अतीता अतिक्रान्ता मृतिः मरणं यस्यासौ अतीतमृतिः तस्य सम्बोधनं हे अतीतमृते अतिक्रान्तमरण। अमित अपरिमित। किमुक्तं भवति—हे पार्श्वभट्टारक ममतातीत उत्तममतामृत ततामितमते तातमत अतीतमृते अमित तव पदद्वयं मम तमोत्तु भक्षयतु ॥ १०० ॥

अर्थ—हे पार्श्वनाथ! आप ममता-रहित हैं—पर पदार्थोंमें 'यह मेरा है और मैं इनका हूँ' ऐसा भाव नहीं रखते। आपका आगमरूपी अमृत अत्यन्त उत्कृष्ट है, आपका केवलज्ञान अत्यन्त विस्तृत और अपरिमित है—पाररहित है, आप सबके बन्धु हैं, नाश-रहित हैं, और अपरिमित हैं। आपके दोनों चरणकमल[2] मेरे अज्ञान अन्धकारको नष्ट करें ॥ १८० ॥

१ तमोऽस्तु इत्युत्तरश्लोकेन सम्बन्धः।

२ पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः।

(मुरजबन्धः)

स्वचित्तपटयालिख्य जिनं चारु भजत्ययम् ।
शुचिरूपतया मुख्यमिनं पुरुनिजश्रियम् ॥ १०१ ॥

स्वचित्तेति—स्वचित्तपटे आत्मीयचेतःपट्टके । आलिख्य लिखित्वा । जिनं पार्श्वनाथम् । चारु शोभनं यथा भवति तथा क्रियाविशेषणमेतत् । भजति सेवते । अयं जनः आत्मानं कथयति । शुचिरूपतया शुद्धस्वरूपत्वेन । मुख्यं प्रधानं । इनं स्वामिनं । पुरु महती निजा आत्मीया श्रीर्लक्ष्मीर्यस्यासौ पुरुनिजश्रीः अतस्तं पुरुनिजश्रियं महदात्मीयलक्ष्मीम् । समुदायार्थः—जिनं पार्श्वनाथं इनं पुरुनिजश्रियं मुख्यं आलिख्य स्वचित्तपटे अयं जनो भजति । किं निमित्तं ? शुचिरूपतया शुद्धस्वरूपमितिकृत्वा ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप कर्मरूपी रिपुओंको जीतनेवाले हैं, सबमें मुख्य हैं, सबके स्वामी हैं और आपकी अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी सबसे बढ़कर है। हे प्रभो ! यह समन्तभद्र आपको अत्यन्त शुद्ध स्वरूप मानकर सुन्दर रीतिसे अपने चित्तपटलपर लिखकर—मनमें ध्यान करता हुआ—आपकी आराधना करता है ॥ १०१ ॥

वर्धमान-जिन-स्तुतिः

(मुरजबन्धः)

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्वामितवित्तृषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥ १०२ ॥

धीमदिति—धीमान् बुद्धिमान् । सुवन्द्यः सुस्तुतः । मान्यः पूज्यः । धीमांश्चासौ सुवन्द्यश्च धीमत्सुवन्द्यः, धीमत्सुवन्द्यश्चासौ मान्यश्च धीमत्सुवन्द्यमान्यः तस्मै धीमत्सुवन्द्यमान्याय । अथवा धीमत्सु बुद्धि-

मस्तु मध्ये सुवन्द्यमान्याय। विदः बोधस्य तृट् तृष्णा वित्तृट्, कामं अत्यर्थं, उद्भामिता उद्गारिता निराकृता वित्तृट् ज्ञानतृष्णा येनासौ कामोद्भामितवित्तृट् तस्मै कामोद्भामितवित्तृषे। श्रीमते लक्ष्मीमते। वर्धमानाय महावीराय चतुर्विंशतितीर्थंकराय। नमः। अयं शब्दो भिन्नसंज्ञकः पूजा-वचनः। नमिताः विद्विषो यस्यासौ नमितविद्विट् तस्मै नमितविद्विषे अधःकृतवैरिणे। समुदायार्थः—नमोस्तु ते वर्धमानाय किं विशिष्टाय धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्भामितवित्तृषे श्रीमते नमितविद्विषे ॥१०२॥

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन्! आप अत्यन्त बुद्धिमानों—चार ज्ञानके धारी गणधरादिकोंके द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं। आपने ज्ञानकी तृष्णाको बिल्कुल नष्ट कर दिया है—आपको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त होगया है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक समस्त तृष्णाएं नष्ट हो चुकी हैं, आप अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मीसे युक्त हैं और आपके शत्रु भी आपको नमस्कार करते हैं—आपकी अलौकिक शान्ति तथा लोकोत्तर प्रभावको देखकर आपके विरोधी वैरी भी आपको नमस्कार करने लग जाते हैं। अतः हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो ॥१०२॥

(मुरजबन्धः)

वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे।
श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥ १०३ ॥

वामदेवेति—नमोवर्धमानायेति सम्बन्धः। वामानां प्रधानानां देवः तस्य सम्बोधनं हे वामदेव। क्षमा अजेया यस्यासौ क्षमाजेयः तस्य सम्बोधनं हे क्षमाजेय। धाम्ना तेजसा उद्यमिता कृतोत्कृष्टा वित् विज्ञानं धामोद्यमितवित् तां जुष्टे सेवते इति धामोद्यमितविज्जुट् तस्मै धामोद्यमितविज्जुषे। अथवा अजेयं धाम तेजो यस्याः सा अजेयधामा, उद्यमिता उद्गता वित् ज्ञानं उद्यमितवित्, अजेयधामा चासौ उद्यमितविच्च

अजेयधामोद्यमितवित् तां जुषे इति अजेयधामोद्यमितविज्जुट् तस्मै अजेयधामोद्यमितविज्जुषे । श्रीमते इत्यादि पूर्व एवार्थः । अथवा श्रिया उपलक्षिता मतिर्यस्यासौ श्रीमतिः तस्य सम्बोधनं हे श्रीमते । वर्धमानः वृद्धिं गच्छन् अयः मार्गो यस्यासौ वर्धमानायः तस्य सम्बोधनं हे वर्धमानाय । मा लक्ष्मीः तया ऊनः मोनः न मोनः नमोनः तस्य सम्बोधनं हे नमोन । मिता परिमिता वित् ज्ञानं मितवित् तां विष्णाति निराकरोति इति मितविद्विट् तस्मै मितविद्विषे । एवं सम्बन्धः कर्तव्यः—हे वर्धमान श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ते नमः । पुनरपि किं विशिष्टाय वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ॥ १०३ ॥

अर्थ--हे भगवन् ! आप,इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषोंके भी देव-इन्द्र हैं, आपका क्षमागुण सर्वथा अजेय है, आप तेजसे प्रकाशमान केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं, आपकी मति-ज्ञान-सम्पत्ति समवशरणादि लक्ष्मीसे उपलक्षित है, आपके द्वारा प्रचलित मोक्षमार्ग हमेशा बढ़ता रहता है अथवा आपका पुण्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, आप लक्ष्मीसे परिपूर्ण हैं तथा मतिश्रुत आदि क्षायोपशमिक-अल्पज्ञानोंको दूर करनेवाले हैं अतः आपके लिये नमस्कार हो ॥ १०३ ॥

(मुरजबन्धः)

समस्तवस्तुमानाय तमोघ्नेमितवित्विषे ।
श्रीमतेवर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥ १०४ ॥

समस्तेति—समस्ते विश्वस्मिन् वस्तुनि पदार्थे मानं ज्ञानं यस्यासौ समस्तवस्तुमानः तस्मै समस्तवस्तुमानाय । तमोघ्ने अज्ञानविनाशकाय । विशिष्टा त्विट् इति वित्विट् अमिता वित्विट् यस्यासौ अमितवित्विट् तस्मै अमितवित्विषे,श्रीमते इत्येवमादिषु पूर्व एवार्थः । अथवा श्रियं मिमीत इति श्रीमः तस्य सम्बोधनं हे श्रीम । ते तुभ्यं । अथवा श्रियं मन्यत इति श्रीमत् तस्मै श्रीमते । ऋद्धं वृद्धं अवेन कान्त्या ऋद्धं अवर्द्धं,

अवर्द्धमानं ज्ञानं यस्यासौ अवर्धमानः अथवा अवर्धं अच्छिन्नं मानं यस्यासौ अवर्धमानः तस्मै अवर्धमानाय । मा पृथ्वी तया ऊनः मोनः न मोनः नमोनः अयं नञ् प्रतिरूपो निपातसंज्ञको नकारः अतो नञोन्यत्रानादेशो न भवति तस्य सम्बोधनं हे नमोन । मितेन ज्ञानेन विनष्टा द्विट् अप्रीतिर्यस्यासौ मितविद्विट् तस्मै मितविद्विषे । किमुक्तं भवति—हे श्रीमते नमोन तुभ्यं नमः किं विशिष्टाय समस्तवस्तुमानाय तमोघ्ने अमितत्विषे अवर्धमानाय मितविद्विषे ॥ १०४ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञान संसारके समस्त पदार्थोंको जानता है, आप अज्ञान अथवा मोहको नष्ट करनेवाले हैं, आपके शरीरको विशिष्ट कान्ति अपरिमित है—आप सर्वाङ्ग सुन्दर हैं—अथवा आपका त्विट्—केवलज्ञान—अपरिमित है, आप लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं, आपका केवलज्ञान लोकोत्तर कान्तिसे वृद्धिको प्राप्त है अथवा आपका केवलज्ञान विच्छेदसे रहित है—अखण्ड है, आप लोकत्रयरूप पृथ्वीसे रहित नहीं हैं—आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं और आपने अपने ज्ञानसे समस्त अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग शत्रुओंको नष्ट कर दिया है । अतः हे प्रभो ! आपके लिये नमस्कार हो ॥ १०४ ॥

(मुरजबन्धः)

प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदास्यते ।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते १०५

प्रज्ञेति—प्रज्ञायां बुद्ध्यां । तनु स्तोकं । ऋतं सत्यं । गत्वा ज्ञात्वा । स्वालोकं आत्मावबोधनं । गोर्विदा पृथिव्या ज्ञात्रा इति अस्यते । यस्य ज्ञानान्तर्गतं बोधाभ्यन्तरम् । भूत्वा प्रभूय । त्रैलोक्यं जगत्त्रयम् । गोष्पदायते गोष्पदमिवात्मानमाचरति । समुदायार्थः—प्रज्ञायां तनु ऋतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदा अस्यते पुरुषेण तव पुनः ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा

त्रैलोक्यं गोष्पदायते तथापि न हर्षो नापि विषादो यतः त्वमेव सर्वज्ञो वीतरागश्च अतः तुभ्यं नमोस्तु इति सम्बन्धः ॥१०५॥

अर्थ—हे भगवन् ! ये संसारके प्राणी अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार थोड़ेसे पदार्थोंको सत्यरूप जान कर अपने आपको पृथिवीका ज्ञाता मान बैठते हैं परन्तु चौदह राजु प्रमाण तीन लोक आपके ज्ञानके अन्तर्गत-प्रतिबिम्बित-होकर गोष्पद के—गायके खुरके—समान मालूम होते हैं ।

भावार्थ—यहां संसारी प्राणी तथा भगवान् महावीरके बीच व्यतिरेक बतलाया गया है—संसारी प्राणी अपने क्षयोपशमके अनुसार थोड़ेसे पदार्थोंको जानकर अपने आपको बहुज्ञानी समझ कर हर्ष या मद करने लग जाते हैं परन्तु भगवान् महावीरका ज्ञान इतना विशाल है कि उसमें तीनों लोक गायके खुरके समान अत्यन्त तुच्छ मालूम होते हैं । उनका केवलज्ञान यदि समुद्र है तो उसके सामने ये तीनों लोक गोष्पद हैं—अत्यन्त अल्प हैं । इतने महान् ज्ञानी होनेपर भी उन्हें कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं होता अतः वे सर्वथा पूज्य है ॥१०५॥

(श्लोकयमकः)

को विदो भवतोपीड्यः सुराननुतान्तरम् ।
शं सते साध्वसंसारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०६॥

कोवीति—कः किमोरूपम् । विदो ज्ञानानि । भवतः त्वत्तः । अपि । ईट् स्वामी । यः यदोरूपम् । सुरान् अमरान् । अपि शब्दोऽत्र सम्बन्धनीयः सुरानपीति । अतनुत विस्तारयतिस्म । अन्तः चित्ते भवं आन्तरं आत्मोत्थम् । शं सुखम्, सते शोभनाय । साधु शोभनं । असंसारं सांसारिकं न भवति । सुष्ठु अमुत् स्वमुत् विनष्टराग इत्यर्थः । यच्छन् ददत् । अपीडितं अबाधितम् । समुदायार्थः—हे वर्धमान भवतो नान्यः ईट् यः सुरानपि विदः अतनुत सुखं आन्तरं साधु असंसारं

अपोहितं यच्छन् सते शोभनपुरुषाय स कोऽन्यो भवतः स्वमुत् ईट् यावता हि न कश्चित् तस्मात् भवानेव सर्वज्ञः ॥१०६॥

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आपसे अतिरिक्त ऐसा कौन स्वामी है जो कि देवोंको भी ज्ञान सम्पादन करावे और भव्य पुरुषोंके लिये आत्मोत्थ, उत्कृष्ट तथा बाधारहित मोक्ष-सम्बन्धी सुखको देता हुआ भी स्वयं रागसे रहित हो ? हे नाथ ! ऐसे आप ही हो अतः आपको नमस्कार हो ।

भावार्थ—संसारके लोगोंने जिन्हें ईश्वर माना है वे स्वयं इतने अल्पज्ञानी थे कि उन्हें आगे-पीछेकी बातका जान लेना मुश्किल था। ऐसी परिस्थितिमें वे जन्मसे ही मति, श्रुत, तथा अवधि ज्ञानके धारण करनेवाले देवोंको क्या ज्ञान देते ? परन्तु श्रीवर्धमानस्वामी इतने अधिक ज्ञानी थे कि वे तीनों लोक और तीनों काल-सम्बन्धी पदार्थोंको स्पष्ट जानते थे और इसी लिये देवोंको भी ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ थे। संसारके माने हुए ईश्वर यदि किसीको सुख प्राप्त करनेका उपदेश भी देते थे तो उससे प्राप्त होनेवाला सुख बाह्य, हीन, संसारको बढ़ानेवाला और बाधक कारणोंके मिलने पर नष्ट हो जाने वाला ही होता था। इतना होने पर भी वे अपनेको परम परोपकारी समझ कर हर्षित होते थे परन्तु भगवान् वर्धमानके उपदेशसे लोगोंको जो सुख प्राप्त होता था वह उससे सर्वथा विपरीत था—आत्मीय, उत्कृष्ट, मोक्षसम्बन्धी और बाधारहित था। इतना होने पर भी वे रागसे रहित थे, उन्हें हर्ष-विषाद तथा अहंकार वगैरह कुछ भी नहीं होता था। इन विशेषताओंको दृष्टिगत करके आचार्य समन्तभद्रने ठीक ही कहा है कि आपके सिवाय आप जैसा और कौन ईश्वर है ? अर्थात् कोई भी नहीं है—आप अनुपम हैं ॥१०६॥

(यमकः)

कोविदो भवतोपीड्यः सुरानत नुतान्तरम् ।
शंसते साध्वसं सारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०७॥

कोविदेति—कोविदः विचक्षणः । भवतः संसारात् । अपीड्यः अबाधितः । हे सुरानत देवैः प्रणत । नुतान्तरं स्तुतिविशेषम् । शंसते आचष्टे । साध्वसं सम्भ्रमम् । सारं फलवत् । स्वं आत्मानं । उद्यच्छन् वहन् बिभ्रत् । ईडितमपि पूजाविधानमपि । अथवा ईडितं नुतान्तरं इति सम्बन्धः । समुदायार्थः – हे सुरानत योऽयं कोविदो जनः भवादपीड्य सन् नुतान्तरं शंसते आचष्टे स्वं साध्वसं सारं ईडितमपि उद्यच्छन् यस्मात् तस्मादहं स्तुतिविशेषेण तुभ्यं नतः ॥१०७॥

अर्थ—हे देवविनत ! जिनेन्द्र ! जो बुद्धिमान् पुरुष आपकी स्तुति तथा पूजा-विधान करता है उसका आत्मा शीघ्र ही सफल हो जाता है और वह संसारके दुःखोंसे पीडित नहीं होता—जन्म-मरणके दुःख नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं भी तरह-तरहके स्तोत्रोंसे आपकी स्तुति कर रहा हूँ अतः मुझे भी मोक्षसुख प्रदान कीजिये ॥१०७॥

(समुद्गकयमकः)

[1]अभीत्यावर्द्ध मानेनः श्रेयोरुगुरु संजयन् ।
अभीत्या वर्धमानेन श्रेयोरुगुरु संजयन् ॥१०८॥

अभीत्येति—अभीत्य मम चेतस्यागत्य । अव रक्ष । ऋद्ध वृद्ध । मा अस्मदः इबन्तस्य रूपम् । अनेनः हे अपाप । श्रेयः सुखं । रुगुरु

१ अभीत्य+अव+ऋद्ध, मा+अनेनः, श्रेयः+रुगुरु (रुचा उरु), वर्धमान+इन, श्रेयः+रुगुः+उ (वितर्के) इति पदच्छेदाः । 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः गुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' (वृत्तरत्नाकरे)

तेजसा महत् । संजयन् लगयन् । अभीत्या अभयेन दयया इत्यर्थः । हे वर्द्धमान जिनेश्वर । इन स्वामिन् । हे श्रेय सेव्य । उर्वी महती गौर्वाणी यस्यासौ उरुगुः त्वं दिव्यवाणीकः त्वं यतः । ऋ निपातः । संजयन् सम्यग्जयं कुर्वन् । किमुक्तं भवति — हे वर्द्धमान इन ऋद्ध अनेनः श्रेय उरुगुस्त्वं यतः ततः अभीत्या अभयेन श्रेयः रुगुरु संजयन् लगयन् जयंश्च मा अव रक्ष ॥१०८॥

अर्थ—हे वर्धमान जिनेन्द्र ! आप वृद्ध हैं—ज्ञानादिगुणोंसे बड़े हैं, केवलज्ञानके साथ होनेवाले अनन्तसुखको देनेवाले हैं, अभयसे—दयासे—उपलक्षित हैं, सबके स्वामी हैं, सेव्य हैं, उत्कृष्ट दिव्यध्वनिको धारण करनेवाले हैं और (कर्मरूप शत्रुओंको) जीतनेवाले हैं। हे प्रभो ! मेरे हृदयमें विराजमान होकर मेरी रक्षा कीजिये।

भावार्थ—यद्यपि बुलानेसे जिनेन्द्रदेव किसीके हृदयमें नहीं पहुँच जाते तथापि भक्तियोगमें ऐसा कहा जाता है ॥१०८॥

(द्व्यक्षरवृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्)

नानानन्तनुतान्त तान्तितनिनुन्नुन्नान्त नुन्नानृत
नृतीनेन नितान्नतानितनुते नेतोन्नतानां ततः ।
नुन्नातीतितनून्नतिं नितनुतान्नीतिं निनूतातनु-
न्तान्तानीतिततान्नुतानन नतान्नो नूतनैनोत्तु नो ॥१०९॥

नानेति—श्रीवर्धमान इत्यनुवर्तते । नाना अनेकप्रकाराः । अनन्ताः अनूनाः अमेयाः नुताः स्तुता अन्ता धर्माः यस्यासौ नानानन्तनुतान्तः तस्य सम्बोधनं हे नानानन्तनुतान्त अनेकप्रकारामेयस्तुतगुण इत्यर्थः । तांतं खेदं करोतीति 'तत्करोति तदाचष्टे इत्यादिना सूत्रेण णिच्' । तान्तिः 'अतः भावे क्तः इति क्तः' तान्तितं भवति । तान्तितं दुःखं निनुदति प्रेरयति इति तान्ति निनुत् तस्य सम्बोधनं हे तान्तितनिनुत् ।

नुन्नः विनष्टः अन्तो विनाशो यस्यासौ नुन्नान्तः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नान्त । नुन्नं विनाशितं अनृतं असत्यं यस्यासौ नुन्नानृतः तस्य सम्बोधनं हे नुन्नानृत विनष्टासत्य । नूतीनां स्तुतीनां इनाः स्वामिनः नूतीनाः नूतीनानां इनः स्वामी नूतीनेनः तस्य सम्बोधनं हे नूतीनेन गणधरेन्द्रादिस्वामिन् । नितान्तं अत्यर्थं तानिता विस्तारिता नुतिः कीर्तिः स्तुतिर्वा यस्यासौ नितान्ततानितनुतिः तस्य सम्बोधनं हे नितान्ततानितनुते अत्यर्थविस्तारितकीर्ते । अथवा नूतीनेनेन गणधरेन्द्रेण नितान्ततानितनुते । नेता नायकः । उन्नतानां इन्द्रादिप्रभूणाम् । ततः तस्मात् । तनुः शरीरं तनोरुन्नतिर्महत्त्वं तनून्नतिः अतीतिर्विनाशः, अतीतिश्च तनून्नतिश्च अतीतितनून्नती, नुन्ने विनाशिते अतीतितनून्नती यया सा नुन्नातीतितनून्नतिः तां नुन्नातीतितनून्नतिम् । नितनुतात् कुरुतात् । नीतिं बुद्धिं विज्ञानम् । अथवा नुन्नातीतितनून्नतिं नितनुतात् नीतिं च । च शब्दोनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः । निनूत स्तुत सुपूजित । अतनुं महतीं । तान्तान् दुःखितान् । ईतिततान् व्याधिव्याप्तान् । हे नुतानन नुतं स्तुतं आननं मुखं यस्यासौ नुताननः तस्य सम्बोधनं हे नुतानन । नतान् प्रणतान् । नः अस्मान् । नूतनं अभिनवं एनः पापं नूतनैनः । अत्त भक्षयतु । नो प्रतिषेधे । किमुक्तं भवति—हे श्रीवर्द्धमान नानानन्तनुतान्त यतः उन्नतानां नेता त्वं ततः नीतिं नुन्नातीतितनून्नतिं अतनुं नितनुतात् नतान् नः अस्मान् तान्तान् ईतिततान् नो नितनुतात् नूतनैनश्च अत्त भक्षयतु अन्यानि विशेषणानि भट्टारकस्य विशेषणानि ॥१०६॥

अर्थ—हे श्रीवर्धमान ! अनेक भव्य जीवोंने आपके विविध गुणोंकी स्तुति की है, आप दुःखोंको नष्ट करनेवाले हैं, अन्त-रहित हैं, आपने एकान्तवादरूप असत्यको नष्ट करदिया है, गणधरादि देवोंने आपकी कीर्तिको अत्यन्त विस्तृत किया है—आपके शासनका प्रचार कर आपका उज्ज्वल यश सब ओर फैलाया है। आप इन्द्र आदि उत्तम पुरुषोंके नायक हैं, पूजित

हैं और आपका मुख भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। हे पूज्य ! हम लोग सांसारिक दुःखोंसे पीड़ित हैं, अनेक व्याधियोंसे घिरे हुए हैं और आपके चरणोंमें विनत हैं। आप हम लोगोंको वह केवलज्ञानरूप महाविद्या प्रदान कीजिये जो कि जन्ममरणको नष्ट करनेवाली है। इसके सिवाय हे प्रभो ! हमारे इन नये बँधनेवाले पापोंको भी नष्ट कर दीजिये अर्थात् संवर और निर्जराकी पूर्ण कला सिखलाकर हमें शीघ्र बन्धन-मुक्त कीजिये ॥१०६॥

(चक्रवृत्तम्[1])

वंदारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव
वर्द्धिष्णो विलसद्गुणार्णव जगन्निर्वाणहेतो शिव ।
वंदीभूतसमस्तदेव वरद प्राज्ञैकदक्षस्तव
वंदे त्वावनतो वरं भवभिदं वर्यैवंकद्याभव ॥११०॥

---

१ 'षडरं चक्रमालिख्यारमध्ये स्थापयेत्कविः ।
त्रीन्पादान्नेमिमध्ये तु चतुर्थं चक्रवृत्तके ॥'
—अलंकारचिन्तामणिः ।

छह अरोंवाला एक चक्र बनाकर अरोंके बीचमें प्रारम्भके तीन पाद लिखने चाहियें, अवशिष्ट चौथापाद नेमि—चक्रधारा—अन्तिमपरिधिमें लिखना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र आये हुए चक्रोंकी रचना समझना चाहिये। इस अलंकारमें कभी-कभी अपना इष्टतम—मनचहा—पाद गूढ भी हो जाता है अर्थात् उस पादके समस्त अक्षर शेषके तीन पादोंमें समाविष्ट हो जाते हैं; जैसा कि इस ग्रन्थके १११ और ११२ नं० के श्लोकोंमें हुआ है। कभी-कभी कविका नाम भी श्लोकके किसी वलयमें आजाता है; जैसा कि ११६ नं० के श्लोकके बाहरसे भीतरकी ओर सातवें वलयमें 'शान्तिवर्मकृतं' आगया है। शान्तिवर्मा समन्तभद्रका दूसरा जन्मनाम है और जो उनके क्षत्रिय कुलोत्पन्न होनेका द्योतक है।

वन्देति—षडरं चक्रं भूमौ फलके वा व्यालिख्य त्रयः पादाः अरमध्ये स्थाप्याः। चतुर्थपादो नेमिमध्ये एवं च सर्वचक्रवृत्तानि द्रष्टव्यानि।

वन्दारवः वन्दनशीला प्रबलं प्रचुरं आजवंजवः संसारः भयं भीः आजवंजवाद्भयं आजवंजवभयं प्रबलं च तत् आजवंजवभयं च तत् प्रबलाजवंजवभयं। वन्दारूणां प्रबलाजवंजवभयं वन्दारुप्रबलाजवंजवभयं। तत् प्रध्वंसयति विनाशयतीत्येवंशीलं वन्दारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसि। प्रभोर्भावः प्राभवम्। गोर्वाण्याः प्राभवं प्रभुत्वं गोप्राभवं वाणीमाहात्म्यमित्यर्थः। वन्दारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसि गोप्राभवं यस्यासौ वन्दारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभवः तस्य सम्बोधनं वन्दारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव। वर्द्धिष्णो वर्द्धनशील। गुणा एव अर्णवो गुणार्णवः विलसन् शोभमानो गुणार्णवो गुणसमुद्रो यस्यासौ विलसद्गुणार्णवः तस्य सम्बोधनं विलसद्गुणार्णव। निर्वाणस्य मोक्षस्य हेतुः कारणं निर्वाणहेतुः। जगतां भव्यलोकानां निर्वाणहेतुः जगन्निर्वाणहेतुः। तस्य सम्बोधनं हे जगन्निर्वाणहेतो। शिव परमात्मन् वन्दीभूताः मङ्गलपाठकीभूताः समस्ताः देवाः विश्वे सुरवराः यस्यासौ वन्दीभूतसमस्तदेवः तस्य सम्बोधनं हे वन्दीभूतसमस्तदेव। वरद इष्टद। प्राज्ञानां मतिमतां एकः प्रधानः प्राज्ञैकः। दक्षाणां विचक्षणानां स्तवः स्तुतिवचनं यस्यासौ दक्षस्तवः अथवा दक्षैः स्तूयते इति दक्षस्तवः प्राज्ञैकश्चासौ दक्षस्तवश्च प्राज्ञैकदक्षस्तवः तस्य सम्बोधनं प्राज्ञैकदक्षस्तव। वन्दे स्तुवे। त्वा भवन्तम्। अवनतः प्रणतः। वरं श्रेष्ठम्। भवभिदं संसारस्य भेदकम्। हे वर्य शोभन। एकः वन्द्यः एकवन्द्यः तस्य सम्बोधनं हे एकवन्द्य। संसारित्वेन न भवति इत्यभवः तस्य सम्बोधनं हे अभव। एतदुक्तं भवति—हे वर्द्धमान भट्टारक! सम्बोधनान्तानि सर्वाणि विशेषणानि अस्यैव भवन्ति। वन्दे अवनतो भूत्वाऽहं त्वा। किं विशिष्टं वरं भवभिदम् इति ॥११०॥

अर्थ—हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करते हैं

उनका संसार-सम्बन्धी प्रचुरभय आपकी दिव्यध्वनिके माहात्म्यसे नष्ट होजाता है। आप ज्ञानादिगुणोंसे हमेशा बढ़ते ही रहते हो, अपका गुणरूपी समुद्र बड़ा सुन्दर है। आप संसारी जीवोंकी मुक्तिके कारण हो, कल्याणरूप हो। समस्तदेव आपके बंदी हैं-चारण हैं-सदा ही आपका गुणगान किया करते हैं। आप मनोवाञ्छित वरोंको देनेवाले हो। श्रेष्ठज्ञानी हो, बड़े बड़े चतुर मनुष्य आपका स्तवन किया करते हैं, आप सर्वोत्कृष्ट हो, संसारपरिभ्रमणको नष्ट करनेवाले हो, पूज्य हो, वन्दनीय हो और पञ्च-परावर्तनरूप संसारसे रहित हो। हे प्रभो! भक्तिसे प्रणत होता हुआ मैं भी आपको नमस्कार करता हूं ॥११०॥

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थपञ्चमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्[1])

नष्टाज्ञान मलोन शासनगुरो नम्रं जनं पानिन
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन् भासन।
नत्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दन्ननन्तावन
नन्तॄन् हानविहीनधामनयनो न स्तात्पुनन् सज्जिन ॥१११॥

नष्टाज्ञानेति—नष्टं विनष्टं अज्ञानं यस्यासौ नष्टाज्ञानः तस्य सम्बोधनं हे नष्टाज्ञान। मलेन कर्मणा ऊनः रहितः मलोनः तस्य सम्बोधनं हे मलोन। शासनस्य दर्शनस्य आज्ञाया वा गुरुः स्वामी शासनगुरुः तस्य सम्बोधनं हे शासनगुरो। नम्रं नमनशीलम्। जनं भव्यलोकम्। पान् रक्षन्। इन स्वामिन्। नष्टं विनष्टं ग्लानं मूर्च्छादिकं यस्यासौ नष्टग्लानः तस्य सम्बोधनं हे नष्टग्लान। शोभनं मानं विज्ञानं यस्यासौ सुमानः तस्य सम्बोधनं हे सुमान। पावन पवित्र। रिपूनपि अन्तः शत्रून् अप्यालुनन् आ समन्तात् खण्डयन्। भासन शोभन। नतीनां प्रणतीनां एकः

1 इष्टः पादो वलयरूपो भवतीत्यर्थः। इसमें मनोनीत पाद वलयमें लिखा जा सकता है।

प्रधान: इन: स्वामी नत्येकेन: तस्य सम्बोधनं हे नत्येकेन । रुजया रोगेण ऊन: रुजोन: तस्य सम्बोधनं हे रुजोन। सज्जनानां पति: सज्जनपति: तस्य सम्बोधनं हे सज्जनपते। नन्दन् आनन्दं कुर्वन्। अनन्त अविनाश। अवन रक्षक। नन्तॄन् स्तोतॄन्। हानेन क्षयेण विहीनं ऊनं हानविहीनं धाम तेजः हानविहीनं च तत् धाम च हानविहीनधाम,हानविहीनधामैव नयनं यस्यासौ हानविहीनधामनयन: त्वम्। नः अस्मान्। स्तात् भव। पुनन् पवित्रीकुर्वन्। हे सज्जिन शोभनजिन। एतदुक्तं भवति—हे भट्टारक नष्टाज्ञान नम्रं जनं पान् रिपूनप्यालुनन् नन्तॄन् नन्दन् न: अस्मान् पुनन् हानविहीनधामनयनस्त्वं स्तात्। शेषाणि सर्वाणि सम्बोधनान्तानि पदानि अस्यैव विशेषणानि भवन्तीति ॥१११॥

अर्थ—भगवन्! आपका अज्ञान नष्ट हो गया है, आप कर्ममलसे रहित हैं, जैनशासन अथवा अप्रतिहत आज्ञाके स्वामी हैं,मूर्च्छादिक परिग्रहसे रहित हैं। आपका ज्ञान अत्यन्त शोभायमान है,आप अत्यन्त पवित्र हैं, प्रकाशमान हैं,नमस्कारके मुख्य स्वामी हैं—इन्द्रादि सब प्रधान पुरुष आपको ही नमस्कार करते हैं। आप रोगरहित हैं, सज्जनोंके अधिपति हैं, अन्तरहित हैं, रक्षक हैं, अथवा अनन्त प्राणियोंके रक्षक हैं और उत्तम जिनेन्द्र हैं। हे प्रभो! आप नम्र मनुष्योंकी रक्षा करते हुए, काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओंको नष्ट करते हुए, नमस्कार करनेवालोंको समृद्ध-सम्पन्न करते हुए और मुझ समन्तभद्रको पवित्र—राग-द्वेषसे रहित—करते हुए चिरकाल तक हानिविहीन केवल-ज्ञान-लोचनसे युक्त तिष्ठें ॥१११॥

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्)

रम्यापारगुणारजस्सुरवरैरर्च्याक्षर श्रीधर
रत्यूनारतिदूर भासुर सुगीरर्य्योत्तर्द्धीश्वर ।
रक्तान् क्रूरकठोरदुर्द्धररुजोरक्षन् शरण्याजर
रक्षाधीर सुधीर विद्वर गुरो रक्तं चिरं मा स्थिर ॥ ११२॥

रम्येति—इष्टपादो वलयरूपेण भवतीत्यर्थः । रम्य रमणीय । अपारगुण अपरिमेयगुण । अरजः ज्ञानावरणादिकर्मरहित । सुरवरैः देवप्रधानैः । अर्च्य पूज्य । अक्षर अनश्वर । श्रीधर लक्ष्मीभृत् । रत्या रागेण ऊन रहित । अरतेर्दूरः विप्रकृष्टः अरतिदूरः तस्य सम्बोधनं हे अरतिदूर । भासुर भास्वर । शोभना गीर्वाणी यस्यासौ सुगीः स्वमिति सम्बन्धः । अर्य स्वामिन् । उत्तराः प्रकृष्टाः ऋद्धयो विभूतयः उत्तरर्द्धयः उत्तरर्द्धीनां ईश्वरः स्वामी उत्तरर्द्धीश्वरः तस्य सम्बोधनं हे उत्तरर्द्धीश्वर । रक्तान् भक्तान् । क्रूरा रौद्रा, कठोरा निष्ठुरा, दुर्द्धरा असह्या, रुक् व्याधिः, क्रूरा चासौ कठोरा च क्रूरकठोरा, क्रूरकठोरा चासौ दुर्द्धरा च क्रूरकठोरदुर्द्धरा, क्रूरकठोरदुर्द्धरा चासौ रुक् च क्रूरकठोरदुर्द्धररुक् तस्याः रक्षन् प्रतिपालयन् । शरण्य शरणीय । अजर जराहीन । रक्ष पालय । आधिर्मनः पीडा आधिं इरति क्षिपतीत्याधीरः तस्य सम्बोधनं हे आधीर । सुधीर अक्षोभ । विदां पण्डितानां वरः प्रधानः विद्वरः तस्य सम्बोधनं हे विद्वर । गुरो स्वामिन् । रक्तं भक्तम् । चिरं अत्यर्थम् । मा अस्मदः प्रयोगः । स्थिर नित्य । एतदुक्तं भवति—हे भट्टारक रम्य इत्यादि गुणविशिष्ट क्रूरकठोरदुर्द्धररुजो रक्तान् रक्षन् मा रक्तं रक्ष ॥११२॥

अर्थ—हे अत्यन्त सुन्दर ! हे अनन्तगुणोंके धारक ! हे ज्ञानवरणादि-कर्मसमूहसे रहित ! हे इन्द्रोंके द्वारा पूज्य ! हे अविनाशी ! हे समवसरणादि लक्ष्मीके धारक ! हे रागरहित ! हे द्वेषसे दूर रहनेवाले ! हे शोभायमान ! हे उत्तम वाणीके

धारक ! हे स्वामिन् ! हे श्रेष्ठ ऋद्धियोंके नायक ! हे रक्षक ! हे जरारहित ! हे मानसिक व्यथाओंको हरनेवाले ! हे क्षोभ-रहित ! हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ ! हे गुरो ! हे नित्य ! श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र ! आप अपने भक्त जनोंको भयंकर निष्ठुर और दुर्धर--कष्टसाध्य रोगोंसे रक्षित करते हुए मुझ चिरस्नेही (समन्तभद्र) की भी रक्षा कीजिये ॥११२॥

उपसंहार

(चक्रवृत्तम्)

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव[1] शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते ।
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥११३॥

प्रज्ञेति—प्रज्ञा बुद्धिः । सा तदः प्रयोगः । स्मरति चिन्तयति । इति शब्दः अवधारणार्थः । या यदः टावन्तस्य रूपम् । तव ते 'स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणीति ता भवति' । शिरः मस्तकम् । तत् यत् । नतं प्रणतम् । ते तव । पदे चरणे । जन्म गत्यन्तरगमनम् । अदः अदसः अपरोक्षवाचिनो रूपम् एतदित्यर्थः । सफलं सकार्थम् । परं श्रेष्ठम् । भवभिदी संसारभेदिनी । यत्र यस्मिन् । आश्रिते सेविते । ते तव । पदे चरणयुगलम् । माङ्गल्यं पूतं । च शब्दः समुच्चयार्थः । सः तदो रूपम् । यः यदो रूपम् । रतः रक्तः भक्तः । तव ते । मते आगमे । गीः वाक् । सैव सा एव नान्या । या त्वा भवन्तम् । स्तुते वन्दते । ते तदः जसन्तं

1 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी ।

रूपम्। ज्ञाः पण्डिताः। ये यदो जसन्तं रूपम्। प्रणताः प्रकर्षेण नताः। जना भक्तभव्यलोकाः। क्रमयुगे चरणद्वन्द्वे। देवानामधिदेवः परमात्मा देवाधिदेवः तस्य देवाधिदेवस्य। ते तव। स्तुत्यवमाने कृतकृत्यः सन् आचार्यः समन्तभद्रस्वामी उपसंहारकं करोति। किमुक्तं भवति—भट्टारक सैव प्रज्ञा या त्वा स्मरति। शिरश्च तदेव यन्नतं ते पदे इत्येवमादि योज्यम् ॥११३॥

अर्थ—हे देवाधिदेव! बुद्धि वही है जो कि आपका स्मरण करे—आपका ध्यान करे, मस्तक वही है जो कि आपके चरणोंमें नत रहे—झुका रहे, जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है जिसमें संसार परिभ्रमणको नष्ट करनेवाले आपके चरणोंका आश्रय लियागया हो, पवित्र वही है जो कि आपके मतमें अनुरक्त हो, वाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे, और बुद्धिमान-पंडितजन वे ही हैं जो कि आपके दोनों चरणोंमें नत हैं।

[यहां परिसंख्याऽलंकार[१] है]

(चक्रवृत्तम्)

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

सुश्रद्धेति—सुश्रद्धा सुरुचिः। मम अस्मदः प्रयोगः। ते तव।

१ सर्वत्र संभवद्वस्तु यत्र क्व युगपत्पुनः।
एकत्रैव नियम्येत परिसंख्या तु सा यथा ॥
— अलंकारचिन्तामणि।

सर्वत्र (सबमें) संभव होनेवाली वस्तुका किसी एकमें ही नियम करदेना परिसंख्या अलंकार कहलाता है।

मते विषये। स्मृतिरपि स्मरणमपि। त्वयि युष्मदः ईबन्तस्य रूपम्। अर्चनं चापि पूजनं चापि त्वय्येवेति सम्बन्धः। च शब्दः समुच्चयार्थः। ते तव। हस्तौ करौ। अञ्जलये अञ्जलिनिमित्तं ते इत्यनेन सम्बन्धः। कथा गुणस्तवनं। कथायाः श्रुतिः श्रवणं कथाश्रुतिः। तस्यां रतः रक्तः कथाश्रुतिरतः। कर्णः श्रवणम्। अक्षि चक्षुः। सम्प्रेक्षते संपश्यति तं रूपमिति सम्बन्धः सामर्थ्याल्लभ्यते। सुस्तुत्यां शोभनस्तवनं। व्यसनं तत्परत्वम्। शिरः मस्तकम्। नतिपरं प्रणामतत्परम्। सेवा सेवनम्। ईदृशी ईदृग्भूता। प्रत्यक्षवचनमेतत्। येन यदो भान्तस्य रूपं येन कारणेनेत्यर्थः। ते तव। तेजस्वी भास्वान्। सुजनः शोभनजनः। अहं अस्मदो वान्तस्य रूपम्। एव अवधारणार्थः। अहमेव नाऽन्यः। सुकृती पुण्यवान्। तेनैव तदो भान्तस्य रूपं। तेनैव कारणेनेत्यर्थः। हे तेजःपते केवलज्ञानस्वामिन्। समुदायार्थः—मम श्रद्धा या मम स्मृतिश्च या सा तवैव मते, ममार्चनमपि यत्तत् त्वय्येव, मम हस्तौ यौ त्वत्प्रणामाञ्जलिनिमित्तम्, कर्णश्च मम ते कथाश्रुतिरतः, अक्षि च मम तव रूपदर्शननिमित्तम्, मम व्यसनमपि तव स्तुत्याम्, शिरश्च मम तव नतिपरम्। येन कारणेन ईदृशी सेवा मम हे तेजःपते तेनैव कारणेन अहमेव तेजस्वी सुजनः सुकृती नान्य इत्युक्तं भवति ॥११४॥

अर्थ—हे भगवन्! मेरी श्रद्धा केवल आपके ही मतमें है, मैं स्मरण भी आपका ही करता हूँ, पूजन भी आपका ही करता हूं, मेरे हाथ भी आपको अंजलि बांधने (हाथ जोड़ने) के लिये ही हैं, मेरे कान भी आपकी कथा सुननेमें आसक्त हैं, मेरी आँखें केवल आपके रूपको देखती हैं—आपके दर्शन करती हैं, मुझे व्यसन आपकी स्तुति करनेका ही है—मैं हमेशा आपकी स्तुतिमें ही लगा रहता हूँ—और मेरा मस्तक भी आपको नमस्कार करनेमें तत्पर रहता है। हे तेजःपते!—हे केवलज्ञानके स्वामी! इस तरह मैं आपकी सेवा करता हूं इसीलिये संसारमें मैं तेजस्वी सुजन और पुण्यवान् ही हूं।

भावार्थ—जिनेन्द्रकी आराधना करनेवाले मनुष्यकी आत्मा आत्मीय तेजसे जगमगा उठती है, वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष गिनाजाने लगता है तथा उसके महान् पुण्यका बन्ध होता है। यहां आचार्य समन्तभद्रने भगवान्की आराधना कर अपने आपको उसके फलका अधिकारी बतलाया है। यहां परिसंख्याके साथ काव्यलिङ्ग[1] अलंकार भी है ॥११४॥

(चक्रवृत्तम्)

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे।
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
वन्दीभूतवतोपि[2] नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा।
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥

जन्मेति—जन्म संसारः, अरण्यं अटवी, शिखी अग्निः, जन्मैवारण्यं जन्मारण्यम्, जन्मारण्यस्य शिखी जन्मारण्यशिखी। स्तवः गुणस्तवनम्। स्मृतिरपि स्मरणमपि। क्लेशाम्बुधेः दुःखसमुद्रस्य नौः पोतः। पदे पादौ। भक्तानामनुरक्तानां। परमौ श्रेष्ठौ। निधी द्रव्यनिधाने। प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम्। सर्वार्थानां सकलकार्याणां सिद्धिः निष्पत्तिः सर्वार्थसिद्धिः। परा प्रकृष्टा। वन्दीभूतवतोपि मंगलपाठकीभूतवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि[3] ममेत्यर्थः। न प्रतिषेधवचनम्। उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं उन्नतिहतिः। नन्तुश्च स्तोतुश्च। येषां यदः

1 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते' —साहित्यदर्पण

जहां हेतु वाक्य अथवा पदार्थगत होता है उसे 'काव्यलिङ्ग' कहते हैं।

2 ममेति योजनीयम्।

3 जायमानस्यापि मम।

आमन्तस्य रूपम् । मुदा हर्षेण । दातारो दानशीलाः । जयोऽस्ति येषां ते जयिनः । भवन्तु सन्तु । वरं ददत इति वरदाः स्वेष्टदायिनः । देवानां सुराणां ईश्वराः स्वामिनः देवेश्वराः । ते तदो जसन्तस्य रूपम् । सदा सर्वकालम् । एतदुक्तं भवति —येषां स्तवः जन्मारण्यशिखी भवति, येषां स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेश्च नौ भवति, येषां च पदे भक्तानां परमो निधी भवतः, येषां च प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा, येषां नन्तुमुदा बन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिः, ते देवेश्वराः दातारः जयिनः वरदाः भवन्तु सदा सर्वकालम् ॥११५॥

अर्थ—जिनका स्तवन संसाररूप अटवीको नष्ट करनेके लिये अग्निके समान है, जिनका स्मरण दुःखरूप समुद्रसे पार होनेके लिये नौकाके समान है, जिनके चरण भक्त पुरुषोंके लिये उत्कृष्ट निधान-खजानेके समान हैं, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति—प्रतिमा--सब कार्योंकी सिद्धि करने वाली है और जिन्हें हर्षपूर्वक प्रणाम करनेवाले एवं जिनका मङ्गलगान करनेवाले—नग्नाचार्यरूपसे (पक्षमें स्तुतिपाठक-चारण-रूपसे) रहते हुए भी मुझ-समन्तभद्रकी उन्नतिमें कुछ बाधा नहीं होती वे देवोंके देव जिनेन्द्र भगवान्, दानशील, कर्मशत्रुओंपर विजय पानेवाले और सबके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हों ।

भावार्थ—यहां पूर्वार्धके दो चरणोंमें रूपकालंकार है परन्तु तृतीय चरणमें विरोधालंकार प्रदर्शित किया गया है । वह इस प्रकार है—'जो किसीका बन्दी स्तुतिपाठक या चारण होकर उसे नमस्कार तथा उसका गुणगान करता है वह लोकमें बहुत ही अवनत कहलाता है परन्तु श्रीजिनेन्द्रदेवकी स्तुतिकरने—उनका बन्दी-चारण बननेपर भी आचार्य समन्तभद्रकी महत्ता नष्ट नहीं हुई, बल्कि सातिशय पुण्य बन्धकर उन्होंने पहलेसे भी अधिक उत्कृष्टताको प्राप्त किया ।' विरोधका परिहार यही है कि 'महापुरुषोंके संसर्गसे सब विरोध दूर हो जाते हैं ॥११५॥

(कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तम् [1])

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये [2]
ये सद्भोगकदायतीव [3] यजते [4] ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥

गत्वेति षष्ठं नववलयं चक्रमालिख्य सप्तमवलये शान्तिवर्म-कृतं इति भवति । चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः कवि-काव्यनामगर्भचक्रवृत्त भवति ।

गत्वा यात्वा । एव: प्रधान:, स्तुत: पूज्य:, एकश्चासौ स्तुतश्च एकस्तुत: तं एकस्तुतम् । एवकारोऽवधारणार्थ: । वासं मोक्षस्थानम् । अधुना साम्प्रतम् । तं तद: इवन्तस्यरूपम् । ये यदो जसन्तस्यरूपम् । अच्युतं अक्षयम् । स्वीशते सुष्ठु ऐश्वर्यं कुर्वते । येषां नति: स्तुति. यन्नति: तया यन्नत्या । एति आगच्छति । सुशर्म अनन्तसुखम् । पूर्णं सम्पूर्णम् । अधिकां महतीं प्रधानां । शान्तिं शमनम् । व्रजित्वा गत्वा । अध्वना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गेण । येषां भक्ति: सेवा यद्भक्ति: तया यद्-भक्त्या । शमितं शान्तं नष्टं अकृषाघं, अकृशं महत् अघं पापं, अकृशं च तदघंच अकृषाघं, शमितं च तत् अकृषाघं च शमिताकृषाघम् क्रिया-

१ छह अरों तथा नव वलयोंसे युक्त चक्राकार रचना बनाकर उसमें श्लोकको पूर्वोक्त विधिसे लिखना चाहिये । इस श्लोकके सातवें वलयमें 'शान्तिवर्मकृतं' और चौथे वलयमें 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है । अत: यह श्लोक 'कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्त' कहलाता है ।

२ 'सु + आलये' 'स्व + आलये' इति वा सन्धि: ।

३ 'सद्भोगकदा: + अतीव' इति सन्धि: ।

४ यजते इति शत्रन्तस्य यजधातोश्चतुर्थ्यां रूपम् । पूजकाये-त्यर्थ: । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इति यजधातोरर्था: ।

विशेषणमेतत्। रुजा रोगः न विद्यते रुजा यस्मिन् तत् अरुजम्। तिष्ठेत् आस्येत। जनः भव्यलोकः। स्वालये शोभनस्थाने। ये यदो जसन्तस्य रूपम्। भोगः सुखांगं सन् शोभनो भोगः सद्भोगः सद्भोग एव सद्भोगकः तं सद्भोगकं ददत इति सद्भोगकदाः शोभनभोगदातारः इत्यर्थः। अतीव अत्यर्थम्। यजते पूजकाय यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इत्यस्य धोः शत्रन्तस्य रूपम्। ते तदो जसन्तस्य रूपं परोक्षवाचि। मे मम। जिनाः श्रीमदर्हन्तः। शोभना श्रीः सुश्रीः तस्यै सुश्रिये। भवन्त्वित्यध्याहार्यम्। किमुक्तं भवति—एवंगुणविशिष्टाः जिनाः ते मे भवन्तु सुश्रिये मोक्षायेत्यर्थः ॥११६॥

अर्थ—जो इस समय परम पूज्य और विनाशरहित मोक्षस्थानको पाकर परमैश्वर्यका अनुभव कररहे हैं, जिनको नमस्कार करने मात्रसे पूर्ण-अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, जिनकी भक्तिसे यह जीव अधिक शान्तिको पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप मार्गके द्वारा स्वालयमें—उत्तम आलय अथवा आत्मआलयमोक्ष-मन्दिरमें—जाकर निवास करता है और इसके बड़ेसे बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं तथा सब रोग दूर हो जाते हैं। और जो अपने पूजकों—भक्तोंके लिये उत्तम भोग प्रदान करते हैं वे देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् मेरे—समन्तभद्रके—लिये भी मोक्षरूप लक्ष्मी प्रदान करें। अर्थात् मेरी मुक्तिश्रीकी प्राप्तिमें प्रधान सहायक बनें।

इति कवि-गमकि-वादि-वाग्मित्व-गुणालंकृतस्य श्रीसमन्तभद्रस्य कृतिरियं स्तुतिविद्या जिनशतालङ्कारापरनाम समाप्ता।

स्तुतिविद्याके पद्योंका वर्णाऽनुक्रम

परिशिष्ट

यहाँ काव्य-चित्रोंके कुछ उदाहरण अपने-अपने काव्यके साथ दिये जाते हैं, जिससे उनके विषयका यथेष्ट परिज्ञान हो सके। साथमें चित्रोंका ठीक परिचय प्राप्त करनेके लिये जरूरी सूचनाएँ भी दी जा रही हैं। इन सबको देनेसे पहले चित्रालङ्कार-सम्बन्धी कतिपय सामान्य नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकारके भ्रमको अथवा चित्रभङ्गकी कल्पनाको कहीं कोई अवकाश न रहे।

चित्रालङ्कारोंके सामान्य नियम—

(१) "नाऽनुस्वार-विसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ।"

'अनुस्वार और विसर्गका अन्तर होनेसे चित्राऽलङ्कार भंग नहीं होता।'

(२) "यमकादौ भवेदैक्यं डलो रलो र्वबोस्तथा।"

'यमकादि अलङ्कारोंमें ड-ल, र-ल और व-ब में अभेद होता है।'

(३) यमकादि चित्रालङ्कारोंमें कहीं कहीं श-ष और न-ण में भी अभेद होता है; जैसा कि निम्न संग्रह श्लोकसे जाना जाता है—

"यमकादौ भवेदैक्यं डलयो रलयोर्वबोः।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाऽविसर्गयोः
सबिन्दुकाऽबिन्दुकयोः स्यादभेद-प्रकल्पनम्॥"

काव्य-चित्रोंके कुछ उदाहरण---

(१) मुरजबन्धः

श्रीमज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागमां जये ।
कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥१॥
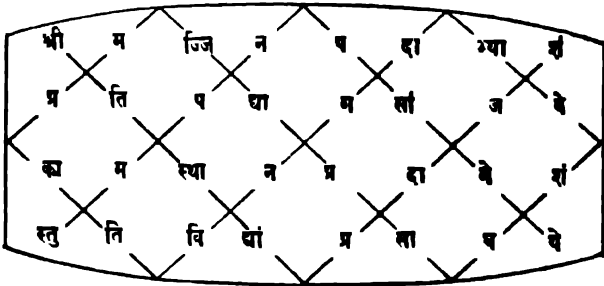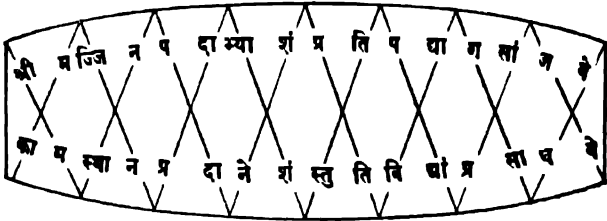
ये सामान्य मुरजबन्धके दो चित्र हैं। इनमें पूर्वार्धके विषमसंख्याङ्क (१, ३, ५, ७, ६, ११, १३, १५) अक्षरोंको उत्तरार्धके समसंख्याङ्क (२, ४, ६, ८, १ , १०, १४, १६) अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे श्लोकका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके सम संख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः

मिलाकर पढ़नेमें उत्तरार्ध बन जाता है। इसप्रकारके अन्य श्लोक ग्रन्थमें निम्नप्रकार हैं :—

२, ६, ७, ८, ६, २१, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४२, ४५, ४६, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६६, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ६६, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५।

(२) अर्धभ्रमः

धिया ये श्रितयेतार्त्या यानुपायान्वराननाः।
येपापा यातपारा ये श्रियायातानतन्वत ॥३॥

१	धि	या	ये	श्रि	त	ये	ता	र्त्या	८
२	या	नु	पा	या	न्व	रा	न	ना	७
३	ये	पा	पा	या	त	पा	रा	ये	६
४	श्रि	या	या	ता	न	त	न्व	त	५

इसी प्रकार ४, १८, १६, २०. २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६०, ६२, श्लोकोंको जानना।

(३) गतप्रत्यागतार्द्धः

भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः।
याः श्रिताः स्तुत गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१०॥

भा	स	ते	वि	भु	ता	स्तो	ना
याः	श्रि	ताः	स्तु	त	गी	त्या	नु

इस कोष्टकमें स्थित श्लोकके प्रथम-तृतीय चरणोंको उलटा

पढ़नेसे क्रमशः द्वितीय-चतुर्थ चरण बन जाते हैं। इसी प्रकारके श्लोक नं० ८३, ८८, ६५ हैं।

(४) गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरश्चक्रश्लोकः

नन्द्यनन्तद्ध्यनन्तेन नन्तेनस्तेभिनन्दन।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टोभिनन्द्य न ॥२२॥

एवं २३, २४ श्लोकौ

यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार आरोंवाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी वही अक्षर पड़ता है। अन्त और उपान्त्यके अक्षर दो दो बार पढ़े जाते हैं। २३, २४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(५) चक्रश्लोकः

वरगौरतनुन्देव वन्दे नु त्वाक्षयार्ज्जव ।
वर्ज्जयार्त्तिं त्वमार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥२६॥
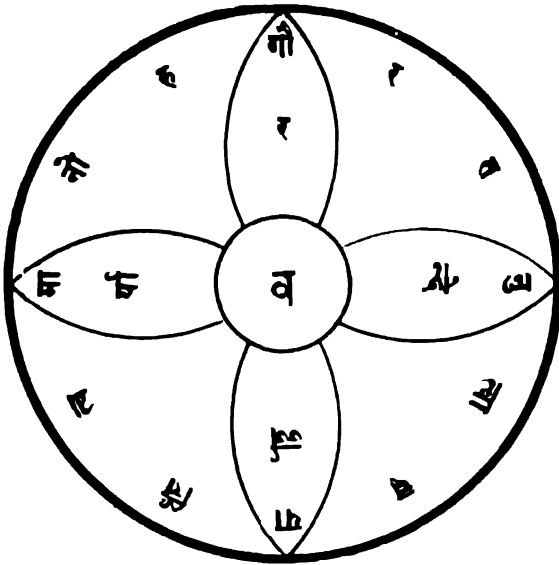
एवं ५३, ५४ श्लोकौ

यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार आरोंवाला चक्रवृत्त है। इसके प्रथमादि कोई कोई अक्षर चक्रमें एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़नेमें आते हैं। ५३, ५४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(६) अनन्तरपाद-मुरजबन्धः

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कयीदृशः ॥४८॥
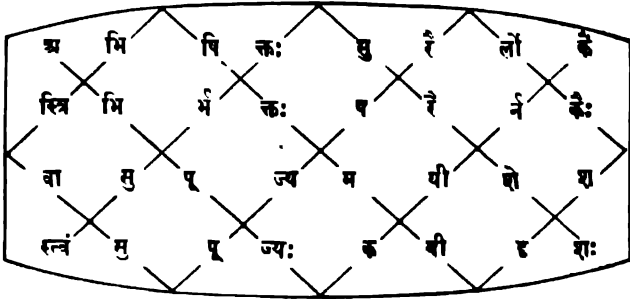
इस चित्रमें श्लोकका एक चरण अपने उत्तरवर्ती चरणके साथ मुरजबन्धको लिये हुए है। ऐसे दूसरे श्लोक नं० ६४, ६६, १०० पर स्थित हैं।

(७) यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्धः

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम ।
श्रीमद्विमलमर्चेमं वामकामं नम क्षमम ॥५०॥
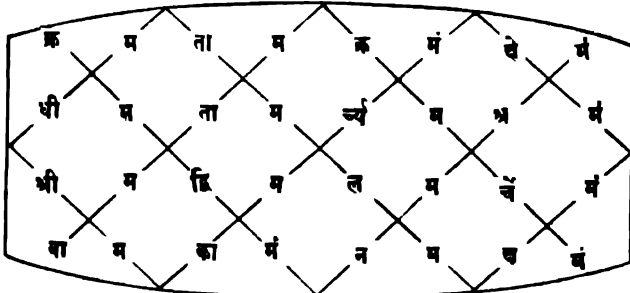
मुरजबन्धके इस चित्रमें ऊपरके चित्रसे यह विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट अक्षर (म) एक एक अक्षरके अन्तरसे पद्यके चारों ही चरणोंमें बराबर प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकारके दूसरे श्लोक ८६ और ६१ हैं।

(८) अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।
रक्ष मामतनत्यागी जराहा मलपातन ॥५७॥

न	त	पा	ल	म	हा	रा	ज	गी	त्या	नु	त	म	मा	क्ष	र

इस कोष्ठकमें स्थित पूर्वार्धको उल्टा पढ़नेसे उत्तरार्द्ध बन जाता है। इसी प्रकार श्लोक नं० ६६, ६८ भी अनुलोम-प्रतिलोम-क्रमको लिए हुए हैं।

(६) बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्य-यमकाऽतालुव्यञ्जना-ऽवर्णस्वर-गूढद्वितीयपाद-सर्वतोभद्रः

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्ध र्द्धमक्षर ॥८४॥

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इस कोष्ठकमें ऊपरका श्लोक चारों ओरसे पढ़ा जाता है।

(१०) गतप्रत्यागतपाद-पादाभ्यासयमकश्लोकः

वीरावारर वारावी वररोरुरुरोरव ।
वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारर वा ॥८५॥

इस कोष्ठकमें स्थित प्रत्येक चरणके पूर्वार्धको उल्टा पढ़नेसे उसका उत्तरार्ध बन जाता है। यह श्लोक दो अक्षरों (व, र) से बना है।

वी	रा	वा	र
व	र	रो	रु
वी	रा	वा	र
वा	रि	वा	रि

एवं ६३,६४ श्लोकौ।

(११) अनुलोम-प्रतिलोम-श्लोकयुगलम्

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

र	क्ष	मा	क्ष	र	वा	मे	श	श	मी	चा	रु	रु	चा	नु	तः
भो	वि	भो	न	श	ना	जो	रु	न	म्रे	न	वि	ज	रा	म	य

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उलटा पढ़नेसे नीचे लिखा ८७ वां श्लोक बन जाता है :—

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तन चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

य	म	रा	ज	वि	न	म्रे	न	रु	जो	ना	श	न	भो	वि	भो
त	नु	चा	रु	रु	चा	मी	श	श	मे	वा	र	क्ष	मा	क्ष	र

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उलटा पढ़नेसे पूर्वका ८६ वाँ श्लोक बन जाता है। इसीसे श्लोकका यह जोड़ा अनुलोम-प्रतिलोम कहलाता है।